



पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान  
वाराणसी-५  
अक्टूबर-दिसम्बर १९६०

प्रधान सम्पादक  
प्रो० सागरमल जैन

सम्पादक  
डा० अशोक कुमार सिंह

सहसम्पादक  
डा० शिवप्रसाद

वर्ष ४१

अक्टूबर-दिसम्बर १९९०

अंक १०-१२

प्रस्तुत अंक में

- |   |   |                      |     |
|---|---|----------------------|-----|
| १. जैन धर्म में नारी की भूमिका  | — | प्रो० सागरमल जैन     | १   |
| २. क्षेत्रज्ञ शब्द के विविध रूपों की कथा और उसका<br>अर्धमागधी रूपान्तर        | — | डा० के० आर० चन्द्र   | ४९  |
| ३. हरिभद्र की श्रावकप्रज्ञप्ति में वर्णित अहिंसा : आधुनिक<br>सन्दर्भ में      | — | डा० अरुण प्रताप सिंह | ५७  |
| ४. ईश्वरत्व : जैन और योग—एक तुलनात्मक अध्ययन<br>—डा० ललितकिशोर लाल श्रीवास्तव | — |                      | ७१  |
| ५. जैन आगम साहित्य में वर्णित दास-प्रथा<br>—डा० इन्द्रेश चन्द्र सिंह          | — |                      | ८५  |
| ६. जैनाचार्य राजशेखर सूरि : व्यक्तित्व एवं कृतित्व<br>—डा० अशोक कुमार सिंह    | — |                      | ९३  |
| ७. शाजापुर का पुरातात्विक महत्व<br>—प्रो० कृष्ण दत्त वाजपेयी                  | — |                      | १११ |
| ८. जैन जगत  |   |                      | ११५ |

वार्षिक शुल्क  
चालीस रुपये

एक प्रति  
दस रुपया

## जैन धर्म में नारी की भूमिका

भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं में श्रमण परम्परा विवेक प्रधान एवं क्रान्तिधर्मी रही है। उसने सदैव ही विषमतावादी और वर्गवादी अवधारणाओं के स्थान पर समतावादी जीवन मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास किया। जैन धर्म भी श्रमण परम्परा का ही एक अंग है अतः उसमें भी नर एवं नारी की समता पर बल दिया गया और स्त्री के दासी या भोग्या स्वरूप को नकार कर उसे पुरुष के समकक्ष ही माना गया है। फिर भी यह सत्य है कि जैन धर्म और संस्कृति का विकास भी भारतीय संस्कृति के पुरुष प्रधान परिवेश में ही हुआ है, फलतः क्रान्तिधर्मी होते हुए भी वह अपनी सहगामी ब्राह्मण परम्परा के व्यापक प्रभाव से अप्रभावित नहीं रह सकी और उसमें भी विभिन्न कालों में नारी की स्थिति में परिवर्तन होते रहे।

यहाँ हम आगमों और आगमिक व्याख्या साहित्य के आधार पर जैनाचार्यों की दृष्टि में नारी की क्या स्थिति रही है इसका मूल्यांकन करेंगे, किन्तु इसके पूर्व हमें इस साहित्य में उपलब्ध सन्दर्भों की प्रकृति को समझ लेना आवश्यक है। जैन आगम साहित्य एक काल की रचना नहीं है। वह ईसा पूर्व पाँचवीं शती से लेकर ईसा की पाँचवीं शती तक अर्थात् एक हजार वर्ष की सुदीर्घ कालावधि में निर्मित, परिष्कारित और परिवर्तित होता रहा है अतः उसके समग्र सन्दर्भ एक ही काल के नहीं है। पुनः उनमें भी जो कथा भाग है, वह मूलतः अनुश्रुतिपरक और प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्ध रखता है। अतः उनमें अपने काल से भी पूर्व के अनेक तथ्य उपस्थित हैं, जो अनुश्रुति से प्राप्त हुए हैं। उनमें कुछ ऐसे भी तथ्य हैं, जिनकी ऐतिहासिकता विवादास्पद हो सकती है और उन्हें मात्र पौराणिक कहा जा सकता है। जहाँ तक आगमिक व्याख्या साहित्य का सम्बन्ध है, वह मुख्यतः आगम ग्रन्थों पर प्राकृत एवं संस्कृत में लिखी गयी टीकाओं पर आधारित है अतः इसकी कालावधि ईसा की ५वीं शती से बारहवीं शती तक है। उसमें भी अपने युग के सन्दर्भों के साथ आगम युग के सन्दर्भ भी मिल गये हैं। इसके अतिरिक्त इन आगमिक व्याख्याओं में कुछ ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं, जिनका मूल स्रोत, न तो आगमों में और न व्याख्याकारों के समकालीन समाज में खोजा जा सकता है, यद्यपि वे

आगमिक व्याख्याकारों की मनःप्रसूत कल्पना भी नहीं कहे जा सकते हैं। उदाहरण के रूप में मरुदेवी, ब्राह्मी, सुन्दरी तथा पार्श्वनाथ की परम्परा की अनेक साध्वियों से सम्बन्धित विस्तृत विवरण, जो आगमिक व्याख्या ग्रन्थों में उपलब्ध है, वे या तो आगमों में अनुपलब्ध हैं या मात्र संकेत रूप में उपलब्ध हैं, किन्तु हम यह नहीं मान सकते हैं कि ये आगमिक व्याख्याकारों की मनःप्रसूत कल्पना है। वस्तुतः वे विलुप्त पूर्व साहित्य के ग्रन्थों से या अनुश्रुति से इन व्याख्याकारों को प्राप्त हुए हैं। अतः आगमों और आगमिक व्याख्याओं के आधार पर नारी का चित्रण करते हुए हम यह नहीं कह सकते कि वे केवल आगमिक व्याख्याओं के युग के सन्दर्भ हैं, अपितु उनमें एक ही साथ विभिन्न कालों के सन्दर्भ उपलब्ध हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उन्हें निम्न काल खण्डों में विभाजित किया जा सकता है—

१. पूर्व युग—ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक ।
२. आगम युग—ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ई० सन् की पाँचवीं शताब्दी तक ।
३. प्राकृत आगमिक व्याख्या युग—ईसा की पाँचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक ।
४. संस्कृत आगमिक व्याख्या एवं पौराणिक कथा साहित्य युग—आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक ।

इसी सन्दर्भ में एक कठिनाई यह भी है कि इन परवर्ती आगमों के रूप में मान्य ग्रन्थों तथा प्राकृत एवं संस्कृत आगमिक व्याख्याओं का काल लगभग एक सहस्राब्दी अर्थात् ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से लेकर ईसा की बारहवीं शताब्दी तक व्याप्त है। पुनः कालविशेष में भी जैन विचारकों का नारी के सन्दर्भ में समान दृष्टिकोण नहीं है। प्रथम तो उत्तर और दक्षिण भारत की सामाजिक परिस्थिति की भिन्नता के कारण और दूसरे श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं के भेद के कारण इस युग के जैन आचार्यों का दृष्टिकोण नारी के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न रहा है। जहाँ उत्तर भारत के यापनीय एवं श्वेताम्बर जैन आचार्य नारी के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण रखते हैं, वहीं दक्षिण भारत के दिगम्बर जैन आचार्यों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अनुदार प्रतीत होता है। इसके लिए अचेलता का आग्रह और देशकालगत परिस्थितियाँ दोनों ही उत्तरदायी रही हैं, अतः आगमिक व्याख्या साहित्य के आधार पर

नारी की स्थिति का चित्रण करते समय हमें बहुत ही सावधानीपूर्वक तथ्यों का विश्लेषण करना होगा। पुनः आगमिक व्याख्या साहित्य और जैन पौराणिक कथा साहित्य दोनों में ही नारी के सम्बन्ध में जो सन्दर्भ उपलब्ध हैं, वे सब जैन आचार्यों द्वारा अनुशंसित थे, यह मान लेना भी भ्रान्त धारणा होगी। जैन आचार्यों ने अनेक ऐसे तथ्यों को भी प्रस्तुत किया है, जो यद्यपि उस युग में प्रचलित रहे हैं, किन्तु वे जैन धर्म की धार्मिक मान्यताओं के विरोधी हैं। उदाहरण के रूप में बहु-विवाह प्रथा, वेश्यावृत्ति, सतीप्रथा, स्त्री के द्वारा गोमांस भक्षण एवं मद्यपान आदि के उल्लेख हमें आगमों एवं आगमिक व्याख्या साहित्य में उपलब्ध होते हैं, किन्तु वे जैनधर्मसम्मत थे, यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः इस साहित्य में लौकिक एवं धार्मिक दोनों ही प्रकार के सन्दर्भ हैं, जिन्हें अलग-अलग रूपों में समझना आवश्यक है।

अतः नारी के सम्बन्ध में जो विवरण हमें आगमों और आगमिक व्याख्या साहित्य में उपलब्ध होते हैं, उन्हें विभिन्न काल खण्डों में विभाजित करके और उनके परम्परासम्मत और लौकिक स्वरूप का विश्लेषण करके ही विचार करना होगा। तथापि उनके गम्भीर विश्लेषण से हमें जैनधर्म में और भारतीय समाज में विभिन्न कालों में नारी की क्या स्थिति थी, इसका एक ऐतिहासिक परिचय प्राप्त हो जाता है।

### नारी लक्षण

नारी की सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्थिति की चर्चा के पूर्व हमें यह भी विचार कर लेना है कि आगमिक व्याख्याकारों की दृष्टि में नारी शब्द का तात्पर्य क्या रहा है। सर्वप्रथम सूत्रकृतांग निर्युक्ति और चूर्णि में नारी शब्द के तात्पर्य को स्पष्ट किया गया है। स्त्री को द्रव्य-स्त्री और भावस्त्री ऐसे दो विभागों में वर्गीकृत किया गया है।<sup>१</sup> द्रव्य-स्त्री से जैन आचार्यों का तात्पर्य स्त्री की शारीरिक संरचना (शारीरिक चिह्न) से है, जबकि भाव-स्त्री का तात्पर्य नारी स्वभाव (वेद) से है। आगम और आगमिक व्याख्याओं दोनों में ही स्त्री-पुरुष के वर्गीकरण का आधार लिंग और वेद माने जाते रहे हैं। जैन परम्परा में स्त्री की शारीरिक संरचना को लिंग कहा गया है। रोमरहित मुख, स्तन, योनि, गर्भाशय

१. दम्प्राभिलावचिन्धे वेए भावे य इत्थिणिवखेवो ।

अहिलावे जह सिद्धी भावे वेयम्मि उवउत्तो ॥

आदि से युक्त शारीरिक संरचना स्त्रीलिंग है, यही द्रव्य-स्त्री है, जबकि पुरुष के साथ सहवास की कामना को अर्थात् स्त्रीयोचित् काम-वासना को वेद कहा गया है। वही वासना की वृत्ति भाव-स्त्री है।<sup>१</sup> जैन आगमिक व्याख्या साहित्य में स्त्री की काम-वासना के स्वरूप को चित्रित करते हुए उसे उपलअग्निवत् बताया गया है। जिस प्रकार उपल-अग्नि के प्रज्वलित होने में समय लगता है किन्तु प्रज्वलित होने पर चालना करने पर बढ़ती जाती है, अधिक काल तक स्थायी रहती है उसी प्रकार स्त्री की काम-वासना जागृत होने में समय लगता है, किन्तु जागृत होने पर चालना करने से बढ़ती जाती है और अधिक स्थायी होती है।<sup>२</sup> जैनाचार्यों का यह कथन एक मनोवैज्ञानिक सत्य लिए हुए है। यद्यपि लिंग और वेद अर्थात् शारीरिक संरचना और तत्सम्बन्धी कामवासना सहगामी माने गये हैं, फिर भी सामान्यतया जहाँ लिंग शरीर पर्यन्त रहता है, वहाँ वेद ( कामवासना ) आध्यात्मिक विकास की एक विशेष अवस्था में समाप्त हो जाता है।<sup>३</sup> जैन कर्मसिद्धान्त में लिंग का कारण नामकर्म (शारीरिक संरचना के कारक तत्व) और वेद का कारण मोहनीयकर्म (मनो-वृत्तियाँ) माना गया है।<sup>४</sup> इस प्रकार लिंग, शारीरिक संरचना का और वेद मनोवैज्ञानिक स्वभाव और वासना का सूचक है तथा शारीरिक परिवर्तन से लिंग में और मनोभावों के परिवर्तन से वेद में परिवर्तन सम्भव है। निशीथचूर्णि ( गाथा ३५९ ) के अनुसार लिंग परिवर्तन से वेद ( वासना ) में भी परिवर्तन हो जाता है इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण कथा द्रष्टव्य है। जिसमें शारीरिक संरचना और स्वभाव की दृष्टि से स्त्रोत्व हो, उसे ही स्त्री कहा जाता है। सूत्रकृतांग निर्युक्ति में स्त्रीत्व के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रजनन, कर्म, भोग, गुण और भाव ये दस

१. अभिधान राजेन्द्र, भाग २, पृ० ६२३

२. यद्वशात् स्त्रियाः पुरुषं प्रत्यभिलाषो भवति, यथा पित्तवणान् मधुरद्रव्यं प्रति स कुंफुमादाहसमः, यथा यथा चाल्यते तथा तथा ज्वलति बृंहति च । एवम् बलाऽपि यथा यथा संपृश्यते पुरुषेण तथा तथा अस्या अधिकतरोऽभिलाषो जायते, भुज्यमानायां तु छन्नकरीषदाहतुल्योऽभिलाषोः, मन्द इत्यर्थः इति स्त्रीवेदोदयः ।—वही, भाग ६, पृष्ठ १४३०

३. संमत्तमित्तिसंधयण तियगच्छेओ बि सत्तारि अनुव्वे ।

हासाइछक्कअंतो छसट्ठ अनियट्ठवेयतिगं ॥

४. देखे—कर्मप्रकृतियों का विवरण ।—कर्मग्रन्थ, भाग २, गाथा १८

निक्षेप या आधार माने गये हैं, अर्थात् किसी वस्तु के स्त्री कहे जाने के लिए उसे निम्न एक या एकाधिक लक्षणों से युक्त होना आवश्यक है, यथा—

( १ ) स्त्रीवाचक नाम से युक्त होना जैसे—रमा, श्यामा आदि ।

( २ ) स्त्री रूप में स्थापित होना जैसे—शीतला आदि की स्त्री-आकृति से युक्त या रहित प्रतिमा ।

( ३ ) द्रव्य—अर्थात् शारीरिक संरचना का स्त्री रूप होना ।

( ४ ) क्षेत्र—देश-विशेष की परम्परानुसार स्त्री की वेषभूषा से युक्त होने पर उस देश में उसे स्त्रीरूप में समझा जाता है ।

( ५ ) काल—जिसने भूत, भविष्य या वर्तमान में से किसी भी काल में स्त्री-पर्याय धारण की हो, उसे उस काल की अपेक्षा से स्त्री कहा जा सकता है ।

(६) प्रजनन क्षमता से युक्त होना ।

(७) स्त्रियोचित् कार्य करना ।

(८) स्त्री रूप में भोगी जाने में समर्थ होना ।

(९) स्त्रियोचित् गुण होना और

(१०) स्त्री सम्बन्धी वासना का होना ।<sup>१</sup>

### जैनाचार्यों की दृष्टि में नारी-चरित्र का विकृत पक्ष

जैनाचार्यों ने नारी-चरित्र का गम्भीर विश्लेषण किया है । नारी-स्वभाव का चित्रण करते हुए सर्वप्रथम जैनागमग्रन्थ तन्दुलवैचारिक प्रकीर्णक में नारी की स्वभावगत निम्न ९४ विशेषतायें वर्णित हैं<sup>२</sup>—

नारी स्वभाव से विषम, मधुर वचन की वल्लरी, कपट-प्रेम रूपी पर्वत, सहस्रों अपराधों का घर, शोक की उद्गमस्थली, पुरुष के बल के विनाश का कारण, पुरुषों की बधस्थली अर्थात् उनकी हत्या का कारण, लज्जा-नाशिका, अशिष्टता का पुन्ज, कपट का घर, शत्रुता की खान, शोक की ढेर, मर्यादा की नाशिका, कामराग की आश्रय स्थली, दुराचरणों का आवास, सम्मोह की जननी, ज्ञान का स्वलन करने वाली, शील को

१. णामं ठवणादविए खेत्ते काले य पज्जणणकम्मे ।

भोगे गुणे य भावे दस ए ए इत्थीणिक्खेवो ॥

—सूत्रकृतांग नियुक्ति गाथा ५४

२. तन्दुलवैचारिक सावचूरि सूत्र १९ (देवचंद्र लालभाई पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला)

विचलित करने वाली, धर्मयाग में बाधा रूप, मोक्षपथ साधकों की शत्रु, ब्रह्मचर्यादि आचार मार्ग का अनुसरण करने वालों के लिए दूषण रूप, कामी की वाटिका, मोक्षपथ की अगंला, दरिद्रता का घर, विषधर सर्प की भाँति कुपित होने वाली, मदमत्त हाथी की भाँति कामविह्वला, व्याघ्री की भाँति दुष्ट हृदय वाली, ढंके हुए कूप की भाँति अप्रकाशित हृदय वाली, मायावी की भाँति मधुर वचन बोलकर स्वपाश में आबद्ध करने वाली, आचार्य की वाणी के समान अनेक पुरुषों द्वारा एक साथ ग्राह्य, शुष्क कण्डे की अग्नि की भाँति पुरुषों के अन्तःकरण में ज्वाला प्रज्वलित करने वाली, विषम पर्वतमार्ग की भाँति असमतल अन्तःकरण वाली, अन्तर्दूषित घाव की भाँति दुर्गन्धित हृदय वाली, कृष्ण सर्प की तरह अविश्वसनीय, संहार (भैरव) के समान मायावी, सन्ध्या की लालिमा की भाँति क्षणिक प्रेम वाली, समुद्र की लहरों की भाँति चंचल स्वभाव वाली, मछलियों की भाँति दुष्परिवर्तनीय स्वभाव वाली, बन्दरों के समान चपल स्वभाव वाली, मृत्यु की भाँति निर्विरोध, काल के समान दयाहीन, वरुण के समान पाशयुक्त अर्थात् पुरुषों को कामपाश में बाँधने वाली, जल के समान अधोगामिनी, कृपण के समान रिक्त हस्त वाली, नरक के समान दारुणत्रासदायिका, गर्दभ के सदृश दुष्टाचार वाली, कुलक्षणयुक्त घोड़े के समान लज्जारहित व्यवहार वाली, बाल स्वभाव के समान चंचल अनुराग वाली, अन्धकारवत् दुष्प्रविश्य, विष-बेल की भाँति संसर्ग वर्जित, भयंकर मकर आदि से युक्त वापी के समान दुष्प्रवेश्य, साधुजनों की प्रशंसा के अयोग्य, विष-वृक्ष के फल की तरह प्रारम्भ में मधुर किन्तु दारुण अन्त वाली, खाली मुट्ठी से जिस प्रकार बालकों को लुभाया जाता है उसी प्रकार पुरुषों को लुभाने वाली, जिस प्रकार एक पक्षी के द्वारा मांस खण्ड ग्रहण करने पर अन्य पक्षी उसे विविध कष्ट देते हैं उसी प्रकार दारुण कष्ट स्त्री को ग्रहण करने पर पुरुषों को होते हैं, प्रदीप्त तृणराशि की भाँति ज्वलन स्वभाव को न छोड़ने वाली, घोर पाप के समान दुर्लभ्य, कूट कार्षापण की भाँति अकालचारिणी, तीव्र क्रोध की भाँति दुरक्ष्य, दारुण दुःखदायिका, घृणा की पात्र, दुष्टोपचारा, चपला, अविश्वसनीया, एक पुरुष से बंधकर न रहने वाली, यौवनावस्था में कष्ट से रक्षणीय, बाल्यावस्था में दुःख से पाल्य, उद्वेगशीला, कर्कशा, दारुण वैर का कारण, रूप स्वभाव गर्विता, भुजंग के समान कुटिल गति वाली, दुष्ट घोड़े के पदचिह्न से युक्त महाजंगल की भाँति दुर्गम्य, कुल, स्वजन और मित्रों से विग्रह कराने वाली, परदोष प्रकाशिका, कृतघ्ना, वीर्यनाशिका, शूकरवत्



जिस प्रकार शूकर खाद्य-पदार्थ को एकान्त में ले जाकर खाता है उसी प्रकार भोग हेतु पुरुष को एकान्त में ले जाने वाली, अस्थिर स्वभाव वाली, जिस प्रकार अग्निपात्र का मुख आरम्भ में रक्त हो जाता है किन्तु अन्ततोगत्वा काला हो जाता है उसी प्रकार नारी आरम्भ में राग उत्पन्न करती है परन्तु अन्ततः उससे विरक्ति ही उत्पन्न होती है, पुरुषों के मैत्री-विनाशादि की जड़, बिना रस्सी की पाग, काष्ठरहित वन की भाँति पाप करके पाश्चात्ताप में जलती नहीं है। कुत्सित कार्य में सदैव तत्पर, अधार्मिक कृत्यों की वैतरणी, असाध्य व्याधि, वियोग पर तीव्र दुःखी न होने वाली, रोगरहित उपसर्ग या पीड़ा, रतिमान के लिए मनोभ्रम कारण, शरीर-व्यापी दाह का कारण, बिना बादल बिजली के समान, बिना जल के प्रवाहमान और समुद्रवेग की भाँति नियन्त्रण से परे कही गई है। तन्दुलवैचारिक की वृत्ति में इनमें से अधिकांश गुणों के सम्बन्ध में एक-एक कथा भी दी गई।<sup>१</sup>

उत्तराध्ययनचूर्णि<sup>२</sup> में भी स्त्री को समुद्र की तरंग के समान चपल स्वभाव वाली, सन्ध्याकालीन आभा के समान क्षणिक प्रेम वाली और अपना स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर पुरुष का परित्याग कर देने वाली कहा गया है। आवश्यक भाष्य और निशीथचूर्णी में भी नारी के चपल स्वभाव और शिथिल चरित्र का उल्लेख हुआ है।<sup>३</sup> निशीथचूर्णि में यह भी कहा गया है कि स्त्रियाँ थोड़े से उपहारों से ही वशीभूत की जा सकती हैं और पुरुषों को विचलित करने में सक्षम होती हैं।<sup>४</sup> आचारांगचूर्णि एवं वृत्ति में उसे शीतपरिषह कहा गया है अर्थात् अनुकूल लगते हुए भी त्रासदायी होती हैं।<sup>५</sup>

१. तन्दुलवैचारिक सावचूरि सूत्र १९, (देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला) -

२. समुद्रवीचीचपलस्वभावाः संध्याभ्रमरेखा व मुहूर्तरागाः ।

स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं निपीडितालक्तकवद् व्यजन्ति ।

उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० ६५, ऋषभदेवजी, केशरीमल संस्था रत्नपुर  
(रतलाम) १९३३ ई०

३. पगइत्ति सभाओ । स्वभावेन च इत्थी अल्पसत्त्वा भवति ।

—निशीथचूर्णि, भाग ३, पृ० ५८४, आगरा, १९५७-५८

४. सा य अप्पसत्तत्तणओ जेण वातेण वत्थमादिणा ।

अप्पेणावि लोभिज्जति, दाणलोभिया य अकज्जं पि करोति ॥

—वही, भाग ३, पृ० ५८४ ॥

५. आचारांगचूर्णि पृ० ३१५ ।

सूत्रकृतांग में कहा गया है कि स्त्रियाँ पापकर्म नहीं करने का वचन देकर भो पुनः अपकार्य में लग जाती हैं ।<sup>१</sup> इसकी टीका में टीकाकार ने कामशास्त्र का उदाहरण देकर कहा है कि जैसे दर्पण पर पड़ी हुई छाया दुर्ग्राह्य होती है वैसे ही स्त्रियों के हृदय दुर्ग्राह्य होते हैं ।<sup>२</sup> पर्वत के दुर्गम मार्ग के समान ही उनके हृदय का भाव सहसा ज्ञात नहीं होता । सूत्रकृतांग वृत्ति में नारी चरित्र के विषय में कहा गया है अच्छी तरह जीती हुई, प्रसन्न की हुई और अच्छी तरह परिचित अटवी और स्त्री का विश्वास नहीं करना चाहिए । क्या इस समस्त जीवलोक में कोई अंगुलि उठाकर कह सकता है, जिसने स्त्री की कामना करके दुःख न पाया हो ? उसके स्वभाव के सम्बन्ध में यही कहा गया कि स्त्रियाँ मन से कुछ सोचती है, वचन से कुछ और कहती हैं तथा कर्म से कुछ और करती हैं ।<sup>३</sup>

### स्त्रियों का पुरुषों के प्रति व्यवहार

स्त्रियाँ पुरुषों को अपने जाल में फँसाकर फिर किस प्रकार उसकी दुर्गति करती हैं उसका सुन्दर एवं सजीव चित्रण सूत्रकृतांग और उसकी वृत्ति में उपलब्ध होता है । उस चित्रण का संक्षिप्त रूप निम्न है<sup>४</sup>—

जब वे पुरुष पर अपना अधिकार जमा लेती हैं तो फिर उसके साथ आदेश की भाषा में बात करती हैं । वे पुरुष से बाजार जाकर अच्छे-अच्छे फल, छुरी, भोजन बनाने हेतु ईंधन तथा प्रकाश करने हेतु तेल लाने को कहती हैं । फिर पास बुलाकर महावर आदि से पैर रंगने और शरीर में दर्द होने पर उसे मलने का कहती हैं । फिर आदेश देती हैं कि मेरे कपड़े जीर्ण हो गये हैं, नये कपड़े लाओ, तथा भोजन-पेय पदार्थादि लाओ । वह अनुरक्त पुरुष की दुर्बलता जानकर अपने लिए आभूषण, विशेष प्रकार के पुष्प, बाँसुरी तथा चिरयुवा बने रहने के लिए पौष्टिक

१. एवं पि ता वदित्तावि अदुवा कम्मणा अवकरेंति । --सूत्रकृतांग, १/४/२३

२. दुग्रहियं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतम्,

भावः पर्वतमार्गदुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते ।

--सूत्रकृतांग विवरण १/४/२३, प्र० सेठ छगनलाल, मूँथा बंगलोर १९३०

३. सुट्ठुवि जियासु सुट्ठुवि पियासु सुट्ठुवि लद्धपरामु ।

अडईसु महिलियासु य वीसंभो नेव कायव्यो ।

उब्भेउ अंगुली सो पुरिसो सयलंमि जीवलयम्मि ।

कामं तएण नारी जेण न पत्ताइं दुक्खाइं ॥

—वही, विवरण १/४/२३

४. वही, १/४/२

औषधि की गोली मांगती हैं। तो कभी अगर, तगर आदि सुगन्धित द्रव्य, अपनी प्रसाधन सामग्री रखने हेतु पेटी, ओष्ठ रंगने हेतु चूर्ण, छाता, जूता आदि मांगती है। वह अपने वस्त्रों को रंगवाने का आदेश देती हैं तथा नाक के केशों को उखाड़ने के लिए चिमटी, केशों के लिए कंधी, मुख शुद्धि हेतु दातौन आदि लाने को कहती है। पुनः वह अपने प्रियतम से पान-सुपारी, सूई-धागा, मूत्रविसर्जन पात्र, सूप, ऊखल आदि तथा देव-पूजा हेतु ताम्रपात्र और मद्यपान हेतु मद्य-पात्र मांगती है। कभी वह अपने बच्चों के खेलने हेतु मिट्टी की गुड़िया, बाजा, झुनझुना, गेंद आदि मंगवाती है और गर्भवती होने पर दोहद-पूर्ति के लिए विभिन्न वस्तुएँ लाने का आदेश देती है। कभी वह उसे वस्त्र धोने का आदेश देती है, कभी रोते हुए बालक को चुप कराने के लिए कहती है।

इस प्रकार कामिनियाँ दास की तरह वशवर्ती पुरुषों पर अपनी आज्ञा चलाती हैं। वह उनसे गधे के समान काम करवाती हैं और काम न करने पर झिड़कती हैं, आँखें दिखाती हैं तो कभी झूठी प्रशंसा कर उससे अपना काम निकालती हैं।

यद्यपि नारी-स्वभाव का यह चित्रण वस्तुतः उसके घृणित पक्ष का ही चित्रण करता है किन्तु इसकी आनुभविक सत्यता से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि नारी के प्रति जैनाचार्यों का दृष्टिकोण अनुदार ही था, उचित नहीं होगा। जैन धर्म मूलतः एक निवृत्तिपरक धर्म रहा है, निवृत्तिपरक होने के कारण उसमें संन्यास और वैराग्य पर विशेष बल दिया गया है। संन्यास और वैराग्य के लिए यह आवश्यक था कि पुरुष के सामने नारी का ऐसा चित्र प्रस्तुत किया जाय जिसके फलस्वरूप उसमें विरक्ति का भाव प्रस्फुटित हो। यही कारण था कि जैनाचार्यों ने आगमों और आगमिक व्याख्याओं और इतर साहित्य में कठोर शब्दों में नारी-चरित्र की निन्दा की, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं रहा कि जैनाचार्यों के सामने नारी-चरित्र का उज्ज्वलतम पक्ष नहीं रहा है। सूत्रकृतांग निर्युक्ति में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जो शील-प्रध्वंसक चरित्रगत दोष नारी में पाये जाते हैं वे पुरुषों में भी पाये जाते हैं इसलिए वैराग्य मार्ग में प्रवर्तित स्त्रियों को भी पुरुषों से उसी प्रकार बचना चाहिए जिस प्रकार स्त्रियों से पुरुषों को बचने का उपदेश दिया गया है।<sup>१</sup> इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैना-

१. एए चव य दोसा पुरिससमाये वि इत्थियाणं पि ।

—सूत्रकृतांगनिर्युक्ति गाथा ६१

चार्यों ने नारी-चरित्र का जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह मात्र पुरुषों में वैराग्य भावना जागृत करने के लिए ही है। भगवती आराधना में भी स्पष्ट रूप से यह कहा गया है—स्त्रियों में जो दोष होते हैं वे दोष नीच पुरुषों में भी होते हैं अथवा मनुष्यों में जो बल और शक्ति से युक्त होते हैं उनमें स्त्रियों से भी अधिक दोष होते हैं। जैसे अपने शील की रक्षा करने वाले पुरुषों के लिए स्त्रियाँ निन्दनीय हैं, वैसे ही अपने शील की रक्षा करने वाली स्त्रियों के लिए पुरुष निन्दनीय हैं। सब जीव मोह के उदय से कुशील से मलिन होते हैं और वह मोह का उदय स्त्री-पुरुषों में समान रूप से होता है। अतः ऊपर जो स्त्रियों के दोषों का वर्णन किया गया है वह सामान्य स्त्री की दृष्टि से है। शीलवती स्त्रियों में ऊपर कहे हुए दोष कैसे हो सकते हैं ?<sup>१</sup>

### जैनाचार्यों की दृष्टि में नारी-चरित्र का उज्ज्वल पक्ष—

स्त्रियों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—जो गुणसहित स्त्रियाँ हैं, जिनका यश लोक में फैला हुआ है तथा जो मनुष्य लोक में देवता समान हैं और देवों से पूजनीय हैं, उनकी जितनी प्रशंसा की जाये कम है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और श्रेष्ठ गणधरों को जन्म देने वाली महिलाएँ श्रेष्ठ देवों और उत्तम पुरुषों के द्वारा पूजनीय होती हैं। कितनी ही महिलाएँ एक-प्रतिव्रत और कौमार्य ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती हैं कितनी ही जीवनपर्यंत वैधव्य का तीव्र दुःख भोगती हैं। ऐसी भी कितनी शीलवती स्त्रियाँ सुनी जाती हैं जिन्हें देवों के द्वारा सम्मान आदि प्राप्त हुआ तथा जो शील के प्रभाव से शाप देने और अनुग्रह करने में समर्थ थीं। कितनी ही शीलवती स्त्रियाँ महानदी के जल प्रवाह में भी नहीं डूब सकीं और प्रज्वलित घोर आग में भी नहीं जल सकीं तथा सर्प, व्याघ्र आदि भी उनका कुछ नहीं कर सके। कितनी ही स्त्रियाँ सर्वगुणों से सम्पन्न साधुओं और पुरुषों में श्रेष्ठ चरमशरीरी पुरुषों को जन्म देने वाली माताएँ हुई हैं।<sup>२</sup> अन्तकृत्दशा और उसकी वृत्ति में कृष्ण द्वारा प्रतिदिन अपनी माताओं के पाद-वन्दन हेतु जाने का उल्लेख है।<sup>३</sup> आवश्यकचूर्ण और कल्पसूत्र टीका में उल्लेख है कि महावीर ने अपनी

१. भगवती आराधना गाथा ९८७-८८ व ९९५-९६

२. वही गाथा, ९८९-९४

३. तए णं से कण्हे द्रासुदेव ष्हाए जाव विभूसिए देवईए देवीए पायवंदाये हव्वमागच्छइ ।

माता को दुःख न हो, इस हेतु उनके जीवित रहते संसार त्याग नहीं करने का निर्णय अपने गर्भकाल में ले लिया था।<sup>१</sup> इस प्रकार नारी वासुदेव और तीर्थंकर द्वारा भी पूज्य मानी गयी है। महानिशीथ में कहा गया है कि जो स्त्री भय, लोकलज्जा, कुलांकुश एवं धर्मश्रद्धा के कारण कामग्नि के वशीभूत नहीं होती है, वह धन्य है, पुण्य है, वंदनीय है, दर्शनीय है, वह लक्षणों से युक्त है, वह सर्वकल्याणकारक है, वह सर्वोत्तम मंगल है, (अधिक क्या) वह (तो साक्षात्) श्रुत देवता है, सरस्वती है, अच्युता है... परम पवित्र सिद्धि, मुक्ति, शाश्वत शिवगति है। (महानिशीथ २/ सूत्र २३ पृ० ३६)

जैनधर्म में तीर्थंकर का पद सर्वोच्च जाता माना है। और श्वेताम्बर परम्परा ने मल्ली कुमारी को तीर्थंकर माना है।<sup>२</sup> इसिमण्डलत्थू (ऋषिमण्डल स्तवन) में ब्राह्मी, सुन्दरी, चन्दना आदि को वन्दनीय माना गया है।<sup>३</sup> तीर्थंकरों की अधिष्ठायक देवियों के रूप में चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती, सिद्धायिका आदि देवियों को पूजनीय माना गया है<sup>४</sup> और उनकी स्तुति में परवर्ती काल में अनेक स्तोत्र रचे गये हैं। यद्यपि यह स्पष्ट है कि जैनधर्म में देवी-पूजा की प... लगभग गुप्त काल में हिन्दू परम्परा के प्रभाव से आई है। उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक की चूर्णि

१. नो खलु में कण्ठ अम्मापितीहि जीवन्तेहो मुण्डे भवित्ता अगारवासाओ अणगारियं पव्वइए ।  
—कल्पसूत्र ९१

( एवं ) गव्भत्थो च्वे अभिग्गहे गेण्हति णाहं समणे होक्खामि जाव एताणि एत्थ जीवन्तित्ति ।

—आवश्यकचूर्णि प्रथम भाग, पृ० २४२, प्र० ऋषभदेव जी केशरीमल श्वेताम्बर सं० रत्नलाभ १९२८

२. तए णं मल्ली अरहा...केवलनाणदंसणे समुप्पन्ने । —ज्ञाताधर्मकथा ८/१८६

३. अज्जा वि बंभि-सुन्दरि-राइमई चन्दणा पमुक्खाओ ।

कालतए वि जाओ ताओ य नमामि भावेणं ॥ —ऋषिमण्डलस्तव २०८

४. देवीओ चक्केसरी अजिया दुरियारी कालि महाकाली ।

अच्चुय संता जाला सुतारया असोय सिरिवच्छा ॥

पवर विजयं कुसा पण्णत्ती निव्वाणि अच्चुया धरणी ।

वइरोट्टट्ठच्छुत गंधारि अब पउमावई सिद्धा ॥

—प्रवचनसारोद्धार, भाग १, पृ० ३७५-७६, देवचन्द लालभाई

जैन पुस्तकोद्धार संस्था सन् १९२२

में राज्ञोमति द्वारा मुनि रथनेमि को<sup>१</sup> तथा आवश्यक चूर्णि में ब्राह्मी और सुन्दरी द्वारा मुनि बाहुबली को प्रतिबोधित करने के उल्लेख हैं<sup>२</sup> । न केवल भिक्षुणियाँ अपितु गृहस्थ उपासिकाएँ भी पुरुष को सन्मार्ग पर लाने हेतु प्रतिबोधित करती थीं । उत्तराध्ययन में रानी कमलावती राजा इषुकार को सन्मार्ग दिखाती है,<sup>३</sup> इसी प्रकार उपासिका जयन्ती भरी सभा में महावीर से प्रश्नोत्तर करती है<sup>४</sup> तो कोशावेश्या अपने आवास में स्थित मुनि को सन्मार्ग दिखाती है,<sup>५</sup> ये तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि जैनधर्म में नारी की अवमानना नहीं की गई । चतुर्विध धर्मसंघ में भिक्षुणीसंघ और श्राविकासंघ को स्थान देकर निर्ग्रन्थ परम्परा ने स्त्री और पुरुष की समकक्षता को ही प्रमाणित किया है । पार्श्व और महावीर के द्वारा बिना किसी हिचकिचाहट के भिक्षुणी संघ की स्थापना की गई, जबकि बुद्ध

१. तीसे सो वयणं सोच्चा संजयाए सुभासियं ।

अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपडिवाइयो ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र २२, ४८  
(तथा) दशवैकालिकचूर्णि, पृ० ८७-८८ मणिविजय सिरिज भावनगर ।

२. भगवं वंभी-सुन्दरीओ पत्थवेति\*\*\*इमं व भणितो ।

ण किर हत्थिं विलगस्स केवलनाणं उप्पज्जइ ॥

—आवश्यकचूर्णि भाग १, पृ० २११

३. वंतासी पुरिसो रायं, न सो होइ पसंसिओ ।

माहणेणं परिचत्तं धणं आदाउमिच्छसि ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १४, ३८ एवं उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० २३० (ऋषभदेव केशरीमल संस्था रतलाम, सन् १९३३)

४. भगवती १२/२ ।

५. जइ वि परिचित्तसंगो तहा वि परिवडइ ।

महिलासंमग्गीए कोसाभवणूसिय व्व रिसी ॥—भक्तपरिज्ञा, गा० १२८  
(तथा)

तुम एत सोयसि अप्पाणं णवि, तुम एरिसओ चेव होहिसि, उवसामेति लद्धबुद्धी, इच्छामि वेदावच्चंति गतो, पुणोवि आलोवेत्ता विरहति ॥

—आवश्यकचूर्णि २, पृ० १८७

ण दुक्करं तोडिय अंबपिंडी, ण दुक्करंणच्चित्तु सिक्खियाए ।

तं दुक्करं तं च महाणुभागं, ज सो मुणी पमयवणं निविट्ठी ॥

—वही, १, पृ० ५५५

को इस सम्बन्ध में संकोच रहा—यह भी इसी तथ्य का द्योतक है कि जैनसंघ का दृष्टिकोण नारी के प्रति अपेक्षाकृत उदार रहा है ।

जैनसंघ में नारी का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि उसमें प्रागैतिहासिक काल से वर्तमान काल तक सदैव ही भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों की और गृहस्थ उपासकों की अपेक्षा उपासिकाओं की संख्या अधिक रही है । समवायांग, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र एवं आवश्यकनिर्युक्ति आदि में प्रत्येक तीर्थंकर की भिक्षुणियों एवं गृहस्थ उपासिकाओं की संख्या उपलब्ध होती है ।<sup>१</sup> इन संख्यासूचक आंकड़ों में ऐतिहासिक सत्यता कितनी है, यह एक अलग प्रश्न है, किन्तु इससे तो फलित होता ही है कि जैनाचार्यों की दृष्टि में नारी जैनधर्म संघ का महत्त्वपूर्ण घटक थी । भिक्षुणियों की संख्या सम्बन्धी ऐतिहासिक सत्यता को भी पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता । आज भी जैनसंघ में लगभग नौ हजार दो सौ भिक्षु-भिक्षुणियों में दो हजार तीन सौ भिक्षु और छह हजार नौ सौ भिक्षुणियाँ हैं ।<sup>२</sup> भिक्षुणियों का यह अनुपात उस अनुपात से अधिक ही है जो पार्श्व और महावीर के युग में माना गया है ।

धर्मसाधना के क्षेत्र में स्त्री और पुरुष को समकक्षता के प्रश्न पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं । सर्वप्रथम उत्तराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृत्दशा आदि आगमों में स्पष्ट रूप से स्त्री और पुरुष दोनों को ही साधना के सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति प्राप्ति के लिए सक्षम माना गया है । उत्तराध्ययन में स्त्रीलिंग सिद्ध का उल्लेख है ।<sup>३</sup> ज्ञाता,<sup>४</sup> अन्तकृत्दशा<sup>५</sup> एवं आवश्यक

१. कल्पसूत्र, क्रमशः १९७, १६७, १५७ व १३४, प्राकृत भारती, जयपुर, १९७७ ई०

२. चातुर्मास सूची, पृ० ७७ प्र. अ. भा. समग्र जैन चातुर्मास सूची प्रकाशन परिषद् बम्बई १९८७ ।

३. इत्थी पुरिससिद्धा य, तहेव य नपुंसगा ।

सल्लिगे अन्नल्लिगे य, गिहिल्लिगे तहेव य ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र ३६, ५०

४. ज्ञाताधर्मकथा—मल्लि और द्रौपदी अयययन ।

५. ( अ ) तथेव हत्थिखंधवरगताए केवलनाणं, सिद्धाए इमामे ओसप्पिणीए पद्मसिद्धो मरुदेवा । एवं आराहणं प्रतियोगसंगहो कायव्वो ।—आ० चूर्णि भाग २, पृ० २१२

द्रष्टव्य, वही भाग, १, पृ० १८१ व ४८८ ।

चूणि में भी अनेक स्त्रियों के मुक्त होने का उल्लेख है। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में आगमिक काल से लेकर वर्तमान तक स्त्री मुक्ति की अवधारणा को स्वीकार कर साधना के क्षेत्र में दोनों को समान स्थान दिया गया है। मात्र इतना ही नहीं यापनीय परम्परा के ग्रन्थ षट्खण्डागम और मूलाचार में भी जो कि दिगम्बरों में भी आगम रूप में मान्यता प्राप्त है, स्त्री-पुरुष दोनों में क्रमशः आध्यात्मिक विकास की पूर्णता और मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार किया गया है।<sup>१</sup> हमें आगमों और आगमिक व्याख्याओं यथा निर्युक्ति, भाष्य और चूणि साहित्य में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता है जिसमें स्त्री मुक्ति का निषेध किया गया हो अथवा किसी ऐसे जैन सम्प्रदाय की सूचना दी गयी हो जो स्त्रीमुक्ति को अस्वीकार करता है। सर्वप्रथम दक्षिण भारत में कुन्दकुन्द आदि कुछ दिगम्बर आचार्य लगभग पाँचवी-छठी शताब्दी में स्त्री-मुक्ति आदि का निषेध करते हैं। कुन्दकुन्द सुत्तपाहुड में कहते हैं कि स्त्री अचेल (नग्न) होकर धर्मसाधना नहीं कर सकती, और सचेल चाहे तीर्थंकर भी हो मुक्त नहीं हो सकता।<sup>२</sup> इसका तात्पर्य यह भी है कि कुन्दकुन्द स्त्री-तीर्थंकर की यापनीय (मूलतः उत्तर भारतीय दिगम्बर संव) एवं श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित अवधारणा से परिचित थे। यह स्पष्ट है कि पहले स्त्री तीर्थंकर की अवधारणा बनी, फिर उसके विरोध में

( ब ) अन्तकृद्दशा के वर्ग ५ में १०, वर्ग ७ में १३, वर्ग ८ में १०। इस प्रकार कुल ३३ मुक्त नारियों का उल्लेख प्राप्त होता है।

१. ( अ ) मणुस्सिणीसु मिच्छाइट्ठि सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ति-याओ सिया अपज्जत्तियाओसंजदासंजदसंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥  
—षट्खण्डागम, १, १ ९२-९३

( ब ) एवं विघाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जावो ।  
ते जंगपुज्जं किन्ति सुहं च लद्धूण सिज्झन्ति ॥

—मूलाचार ४।१९६

२. लिंग इत्थीणं हवदि भुंजइ पिडं सुएयकालम्मि ।

अज्जिय त्ति एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ॥

णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो ।

णग्गे विमोव्वखमग्गे सेसा उमग्गया सव्वे ॥ —सूत्रप्राभूत, २२, २३

( तथा ) सुणहाण गद्दहाण य गोपसुमहिलाणं दीसदे मोन्खो ।

जे सोधति चउत्थं पिन्धिज्जन्ता जणेहि सव्वेहि ॥ —शीलप्राभूत २९



स्त्रीमुक्ति का निषेध किया गया। सम्भवतः सबसे पहले जैनपरम्परा में स्त्रीमुक्ति-निषेध की अवधारणा का विकास दक्षिण भारत में दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा हुआ। क्योंकि सातवीं-आठवीं शताब्दी तक उत्तर भारत के श्वेताम्बर आचार्य जहाँ सचेलता को लेकर विस्तार से चर्चा करते हैं वहाँ स्त्रीमुक्ति के पक्ष-विपक्ष में कोई भी चर्चा नहीं करते हैं। इसका तात्पर्य है कि उत्तर भारत के जैन सम्प्रदायों में लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दी तक स्त्रीमुक्ति सम्बन्धी विवाद उत्पन्न ही नहीं हुआ था। इस सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा पं० बेचरदास स्मृति ग्रन्थ में पं० दलसुखभाई, प्रो० ढाकी और मैने अपने लेख में की है।<sup>१</sup> यहाँ केवल हमारा प्रतिपाद्य इतना ही है कि स्त्रीमुक्ति का निषेध दक्षिण भारत में पहले और उत्तर भारत में बाद में प्रारम्भ हुआ है, क्योंकि श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय के ग्रन्थों में लगभग आठवीं-नौवीं शताब्दी से स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को विवाद के विषय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनपरम्परा में भी धर्मसाधना के क्षेत्र में स्त्री की समकक्षता किस प्रकार कम होती गयी। सर्वप्रथम तो स्त्री की मुक्ति की सम्भावना<sup>२</sup> को अस्वीकार किया गया है फिर नग्नता को ही साधना का सर्वस्व मानकर उसे पाँच महाव्रतों के पालन करने के अयोग्य मान लिया गया और उसमें यथाख्यातचारित्र (सच्चरित्रता की उच्चतम अवस्था) को असम्भव बता दिया गया। सुत्तपाहुड में तो स्पष्ट रूप से स्त्री के लिए प्रव्रज्या का निषेध कर दिया गया। दिगम्बर परम्परा में स्त्री को जिन कारणों से प्रव्रज्या और मोक्ष के अयोग्य बताया गया है, वे निम्न हैं—

( १ ) स्त्री को शरीर-रचना ही ऐसी है कि उससे रक्तस्राव होता है, उस पर बलात्कार सम्भव है अतः वह अचेल या नग्न नहीं रह सकती। चूँकि स्त्री अचेल या नग्न नहीं हो सकती, दूसरे शब्दों में वह पूर्ण परिग्रह

1. Aspects of Jainology Vo.. 2; Pt. Bechardas Doshi Comm-einoration Vol. page 150-110.

२. इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर दृष्टिकोण के लिए देखिए—अभिधान राजेन्द्र भाग २, पृ० ६१८-६२१ ( तथा ) इत्थीसु ण पावया भणिया—सूत्र-प्राभृत, पृ० २४-२६

एवं

णवि सिञ्जइ वत्तचरो जिणसावणे होइ तित्थयरो ॥

—बही, २३

का त्याग किये बिना उसके द्वारा महाव्रतों का ग्रहण एवं मुक्ति प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती ।

( २ ) स्त्री करुणा प्रधान है उसमें तीव्रतम क्रूर अध्यवसायों का अभाव होता है अतः निम्नतम गति सातवें नरक में जाने के अयोग्य होती है । जैनाचार्यों की इस उदार और मनोवैज्ञानिक मान्यता के आधार पर दिगम्बर परम्परा ने यह मान लिया कि तीव्र पुरुषार्थ के अभाव में जो निम्नतम गति में नहीं जा सकती, अतः वह उच्चतम गति में भी नहीं जा सकती । अतः स्त्री की मुक्ति सम्भव नहीं ।

( ३ ) यह भी कहा गया है कि चंचल स्वभाव के कारण स्त्रियों में ध्यान की स्थिरता नहीं होती है, अतः वे आध्यात्मिक विकास की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकतीं ।

( ४ ) एक अन्य तर्क यह भी दिया गया है कि स्त्री में वाद सामर्थ्य एवं तोत्र बुद्धि के अभाव के कारण ये दृष्टिवाद के अध्ययन में अयोग्य होती हैं अतः वे मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकतीं ।

यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा ने भी उन्हें बौद्धिक क्षमता के कारण दृष्टिवाद, अरुणोपपात, निशीथ आदि के अध्ययन के अयोग्य अवश्य माना फिर भी उनमें 'मोक्षप्राप्ति' की क्षमता को स्वीकार किया गया । चाहे शारीरिक संरचना के कारण इसके लिए संयम-साधना के उपकरण के रूप में वस्त्र आवश्यक हों किन्तु आसक्ति के अभाव के कारण वह परिग्रह नहीं है, अतः इसमें प्रव्रजित होने एवं मुक्त होने की सामर्थ्य है ।<sup>१</sup>

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मुनि के अचेलकत्व (दिगम्बर-तत्व) को पोषक यापनीय परम्परा ने स्त्री-मुक्ति और पंच महाव्रत आरोपण रूप छेदोपस्थापनीय चारित्र (स्त्री-दीक्षा) को स्वीकार किया है । उससे विकसित द्राविड, काष्ठा और माथुर संघों में भी स्त्री-दीक्षा (महाव्रतारोपण) को स्वीकार किया गया है । यद्यपि इस कारण वे मूल-संघीय दिगम्बर परम्परा की आलोचना के पात्र भी बने और उन्हें जैनाभास तक कहा गया । इससे स्पष्ट है कि न केवल श्वेताम्बरों ने अपितु

१. इस सम्बन्ध में दिगम्बर पक्ष के विस्तृत विवेचन के लिए देखें—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग ३, पृ० ५९६-५९८ एवं श्वेताम्बर पक्ष के लिए देखें—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग २, पृ० ६१८-६२१ ।

दिगम्बर परम्परा के अनेक संघों ने भी स्त्री-मुक्ति और स्त्री-दीक्षा को स्वीकार करके नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया था ।<sup>१</sup>

यह निश्चित ही सत्य है कि आगमिक काल के जैनाचार्यों ने न केवल स्त्री-मुक्ति और स्त्री दीक्षा को स्वीकार किया, अपितु मल्लिक को स्त्री तीर्थंकर के रूप में स्वीकार करके यह भी उद्घोषित किया कि आध्यात्मिक विकास के सर्वोच्च पद की अधिकारी नारी भी हो सकती है। स्त्री तीर्थंकर की अवधारणा जैनधर्म की अपनी एक विशिष्ट अवधारणा है, जो नारी की गरिमा को महिमामण्डित करती है।

ज्ञातव्य है कि बौद्धपरम्परा, जो कि जैनों के समान ही श्रमण धारा का एक अंग थी, स्त्री के प्रति उतनी उदार नहीं बन सकी, जितनी जैन परम्परा। क्योंकि बुद्ध स्त्री को निर्वाण पद की अधिकारिणी मानकर भी यह मानते थे कि स्त्री बुद्धत्व को प्राप्त नहीं कर सकती है। नारी को संघ में प्रवेश देने में उनकी हिचक और उसके प्रवेश के लिए अष्टगुरु धर्मों का प्रतिपादन जैनों की अपेक्षा नारी के प्रति उनके अनुदार दृष्टिकोण का ही परिचायक है। यद्यपि हिन्दू धर्म में शक्ति उपासना के रूप में स्त्री को महत्व दिया गया है, किन्तु जैनधर्म में तीर्थंकर की जो अवधारणा है, उसकी अपनी एक विशेषता है। वह यह सूचित करता है कि विश्व का सर्वोच्च गरिमामय पद पुरुष और स्त्री दोनों ही समान रूप से प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि परवर्ती आगमों एवं आगमिक व्याख्या साहित्य में इसे एक आश्चर्यजनक घटना कहकर पुरुष के प्राधान्य को स्थापित करने का प्रयत्न अवश्य किया गया। (स्थानांग १०/१६०) किन्तु आगमिक व्याख्याओं के काल में जैन परम्परा में भी पुरुष की महत्ता बढ़ी और ज्येष्ठकल्प के रूप में व्याख्यायित किया गया। अंग आगमों में मुझे एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला जिसमें साध्वी अपनी प्रवर्तिनी, आचार्य और तीर्थंकर के अतिरिक्त दीक्षा में कतिष्ठ भिक्षु को वन्दन या नमस्कार करती हो, किन्तु परवर्ती आगम एवं आगमिक-व्याख्या-साहित्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी के लिए भी सद्यः दीक्षित मुनि वन्दनीय है। (वृहत्कल्पभाष्य भाग ६ गाथा ६३९९ कल्पसूत्र कल्पलता टीका)। सम्भवतः जैन परम्परा में पुरुष की ज्येष्ठता का प्रतिपादन बौद्धों के अष्टगुरु धर्मों के कारण ही हुआ हो।

१. इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा के लिए देखें—यापनीय सम्प्रदाय, प्रो० सागरमल जैन ।

जैनधर्म संघ में नारी की महत्ता को यथासम्भव सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। मथुरा में उपलब्ध अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि धर्मकार्यों में पुरुषों के समान नारियाँ भी समान रूप से भाग लेती थीं। वे न केवल पुरुषों ने समान पूजा, उपासना कर सकती थीं, अपितु वे स्वेच्छानुसार दान भी करती थीं और मन्दिर आदि बनवाने में समान रूप से भागीदार होती थीं। जैन परम्परा में मूर्तियों पर जो प्राचीन अभिलेख उपलब्ध होते हैं उनमें सामान्य रूप से पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों के नाम भी उपलब्ध होते हैं जो इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं।<sup>१</sup> यद्यपि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में कुछ लोग यह मानते हैं कि स्त्री को जिन-प्रतिमा के स्पर्श, पूजन एवं अभिषेक का अधिकार नहीं है, किन्तु यह एक परवर्ती अवधारणा है। मथुरा के जैन शिल्प में साधु के समान ही साध्वी का अंकन और स्त्री-पुरुष दोनों के पूजा सम्बन्धी सामग्री सहित अंकन यही सूचित करते हैं कि प्राचीन काल में जैन परम्परा में दोनों का समान स्थान रहा है।

आगमिक व्याख्याकाल में हम देखते हैं कि यद्यपि संघ के प्रमुख के रूप में आचार्य का पद पुरुषों के अधिकार में था, किसी स्त्री के आचार्य होने का कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु गणिनी, प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका आदि पद स्त्रियों को प्रदान किये जाते थे<sup>२</sup> और वे अपने भिक्षुणी संघ की स्वतन्त्र रूप से आन्तरिक व्यवस्था देखती थीं। यद्यपि तरुणी भिक्षुणियों को सुरक्षा का दायित्व भिक्षु संघ को सौंपा गया था, किन्तु सामान्यतया भिक्षुणियाँ अपनी सुरक्षा की व्यवस्था स्वयं रखती थीं, क्योंकि रात्रि एवं पदयात्रा में भिक्षु और भिक्षुणियों का एक ही साथ रहना सामान्यतया वर्जित था। इस सुरक्षा के लिए भिक्षुणी संघ में प्रतिहारी आदि के पद भी निर्मित किये गये थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधना के क्षेत्र में स्त्री की गरिमा को यथासम्भव सुरक्षित रखा गया—फिर भी तथ्यों के अवलोकन से यह निश्चित होता है कि आगमिक व्याख्याओं के युग में और उसके पश्चात् जैन परम्परा में भी स्त्री की अपेक्षा पुरुष को महत्ता दी जाने लगी थी।

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २।

२. ( क ) बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, २४११, २४०७, ( ख ) बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, ४३३९।

( ग ) व्यवहारसूत्र ५/१-१६।

## नारी की स्वतन्त्रता

नारी की स्वतन्त्रता को लेकर प्रारम्भ में जैनधर्म का दृष्टिकोण उदार था। यौगलिक काल में स्त्री-पुरुष सहभागी होकर जीवन जीते थे। आगम-ग्रन्थ ज्ञाताधर्मकथा<sup>१</sup> में राजा द्रुपद द्रौपदी से कहते हैं कि मेरे द्वारा विवाह किये जाने पर तुझे सुख-दुःख हो सकता है अतः अच्छा हो कि तू अपना वर स्वयं ही चुन। यहाँ ग्रन्थकार के ये विचार वैवाहिक जीवन के लिये नारी-स्वातन्त्र्य के समर्थक हैं। इसी प्रकार हम देखते हैं कि उपासकदशांग में महाशतक अपनी पत्नी रेवती के धार्मिक विश्वास, खान-पान और आचार-व्यवहार पर कोई जबरदस्ती नहीं करता है। जहाँ आनन्द आदि श्रावकों को पत्नियाँ अपने पति का अनुगमन करती हुई महावीर से उपासक व्रतों को ग्रहण करती हैं और धर्मसाधना के क्षेत्र में भी पति की सहभागी बनती हैं, वहीं रेवती अपने पति का अनुगमन नहीं करती है, मात्र यही नहीं, वह तो अपने मायके से मँगाकर मद्य-मांस का सेवन करती है, और महाशतक के पूर्ण साधनात्मक जीवन में विघ्न-बाधाएँ भी उपस्थित करती है।<sup>२</sup> इससे ऐसा लगता है कि आगम युग तक नारी को अधिक स्वातन्त्र्य था किन्तु आगमिक व्याख्या साहित्य में हम पाते हैं कि पति या पत्नी अपने धार्मिक विश्वासों को एक दूसरे पर लादने का प्रयास करते हैं। चूर्ण साहित्य में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें पुरुष स्त्री को अपने धार्मिक विश्वासों की स्वतन्त्रता नहीं देता है।

इसी प्रकार धर्मसंघ में भी आगम युग में भिक्षुणी संघ की व्यवस्था को भिक्षुसंघ से अधिक नियन्त्रित नहीं पाते हैं। भिक्षुणी संघ अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णतया आत्मनिर्भर था, गणधर अथवा आचार्य का उस पर बहुत अधिक अंकुश नहीं था, किन्तु छेदसूत्र एवं आगमिक व्याख्या साहित्य के काल में यह नियन्त्रण क्रमशः बढ़ता जाता है। इन ग्रंथों में चानुर्मास,

१. जस्स णं अहं पुत्ता ! रायस्स वा जुवरायस्स वा भारियत्ताए सयमेव दल-  
इस्सामि, तत्थ णं तुमं मुहिया वा दुक्खिया वा भविज्जासि ।

—ज्ञाताधर्मकथा १६/८५

२. तए णं सा रेवई गाहावइणी तेहि गोणमंसेहि सोल्लेहि य ४ सुरं च आसाए-  
माणी ४ विहरइ ।

—उवासगदसाओ २४४

तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स बहूहि सील जाव भावेमाणस्स  
चोइस संवच्छरा वइक्कंता । एवं तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ जाव पोसहसालाए  
धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जिता णं विहरइ ।

—उवासगदसाओ, २४५

प्रायश्चित्त, शिक्षा, सुरक्षा आदि सभी क्षेत्रों में शिक्षक वर्ग का प्रभुत्व बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। फिर भी बौद्ध भिक्षुणी संघ की अपेक्षा जैन भिक्षुणी संघ में स्वायत्तता अधिक थी। किन्हीं विशेष परिस्थितियों को छोड़कर वे दीक्षा, प्रायश्चित्त, शिक्षा और सुरक्षा की अपनी व्यवस्था करती थीं और भिक्षु संघ से स्वतन्त्र विचरण करते हुए धर्मोपदेश देती थीं जबकि बौद्धधर्मसंघ में भिक्षुणी को उपोसथ, वर्षावास आदि भिक्षुसंघ के अधीन करने होते थे।

यद्यपि जहाँ तक व्यावहारिक जीवन का प्रश्न था जैनाचार्य हिन्दू परम्परा के चिन्तन से प्रभावित हो रहे थे। मनुस्मृति के समान व्यवहार-भाष्य में भी कहा गया है—

जाया पितिव्वसा नारी दत्ता नारी पतिव्वसा ।

विहवा पुत्तवसा नारी नत्थि नारी सयंवसा ॥ ३/२३३

अर्थात् जन्म के पश्चात् स्त्री पिता के अधीन, विवाहित होने पर पति के अधीन और विधवा होने पर पुत्र के अधीन होती है अतः वह कभी स्वाधीन नहीं है। इस प्रकार आगमिक व्याख्या साहित्य में स्त्री को स्वाधीनता सीमित की गयी है।

### पुत्र-पुत्री की समानता का प्रश्न

चाहे प्रारम्भिक वैदिक धर्म में पुत्र और पुत्री की समकक्षता स्वीकार की गई हो किन्तु परवर्ती हिन्दू धर्म में अर्थोपार्जन और धार्मिक कर्मकाण्ड दोनों ही क्षेत्रों में पुरुष की प्रधानता के परिणामस्वरूप पुत्र का स्थान महत्त्वपूर्ण हो गया और यह उद्घोष किया गया कि पुत्र के बिना पूर्वजों की सुगति/मुक्ति सम्भव नहीं।<sup>१</sup> फलतः आगे चलकर हिन्दू परम्परा में कन्या की उत्पत्ति को अत्यन्त हीनदृष्टि से देखा जाने लगा। इस प्रकार वैदिक हिन्दू परम्परा में पुत्र-पुत्री की समकक्षता को अस्वीकार कर पुत्र को अधिक महनीयता प्रदान की गई किन्तु इसके विपरीत जैन आगमों में हम देखते हैं कि उपासक और उपासिकाएँ पुत्र-पुत्री हेतु समान रूप से कामना करते हैं।<sup>२</sup> चाहे अर्थोपार्जन और पारिवारिक व्यवस्था को दृष्टि से जैनधर्मानुयायियों में भी पुत्र की प्रधानता रही हो किन्तु जहाँ तक

१. अपुत्रस्य गतिर्नास्ति ।

२. जइ णं अहं दारगं वा पयायामि तो णं अहं जायं य जाव अणुवुड्ढेमिति ।

धार्मिक जीवन और साधना का प्रश्न था, जैन धर्म में पुत्र की महत्ता का कोई स्थान नहीं था। जैन कर्म सिद्धान्त ने स्पष्ट रूप से यह उद्घोषित किया कि व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार ही सुगति या दुर्गति में जाकर सुख-दुःख का भोग करता है। सन्तान के द्वारा सम्पन्न किए गये कर्म-काण्ड पूर्वजों को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं करते<sup>१</sup> इस प्रकार उसमें धार्मिक आधार पर पुत्र को महत्ता को अस्वीकार कर दिया गया। फलतः आगमिक युग में पुत्र-पुत्री के प्रति समानता की भावना प्रदर्शित की गई किन्तु अर्थोपार्जन और पारिवारिक व्यवस्था में पुरुष की प्रधानता के कारण पुत्रोत्पत्ति को ही अधिक सुखद माना जाने लगा। यद्यपि ज्ञाता-धर्मकथा में मल्लि आदि के जन्मोत्सव के उल्लेख उपलब्ध हैं,<sup>२</sup> किन्तु इन उल्लेखों के आधार पर यह मान लेना कि जैन संघ में पुत्र और पुत्री की स्थिति सदैव ही समकक्षता की रही, उचित नहीं होगा। आगमिक व्याख्या साहित्य एवं पौराणिक साहित्य में उपर्युक्त आगमिक अपवादों को छोड़कर जैनसंघ में भी पुत्री की अपेक्षा पुत्र को जो अधिक सम्मान मिला उसका आधार धार्मिक मान्यतायें न होकर सामाजिक परिस्थितियाँ थीं। यद्यपि भिक्षुणी संघ की व्यवस्था के कारण पुत्री पिता के लिये उतनी अधिक भारस्वरूप कभी नहीं मानी गयी जितनी उसे हिन्दू परम्परा में माना गया था।

इस प्रकार जैन आगमों और आगमिक व्याख्या साहित्य से जो सूचनाएँ उपलब्ध हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि यौगलिक काल अर्थात् पूर्व युग में और आगम युग में पुत्र और पुत्री दोनों की ही उत्पत्ति सुखद थी किन्तु आगमिक व्याख्याओं के युग में बाह्य सामाजिक एवं आर्थिक प्रभावों के कारण स्थिति में परिवर्तन आया और पुत्री की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्व दिया जाने लगा।

### विवाह संस्था और नर-नारी की समकक्षता का प्रश्न

विवाह-व्यवस्था प्राचीन काल से लेकर आज तक मानवीय समाज व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग रही है। यह सत्य है कि जैनधर्म के अनुयायियों में भी प्राचीनकाल से विवाह व्यवस्था प्रचलित रही है किन्तु

१. न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।

एवको सयं पच्चणु होइ दुक्खं, कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं ॥

—उत्तराध्ययन १३, २३

२. ज्ञाताधर्मकथा अध्ययन ८, सूत्र ३०, ३१ ।

हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि निवृत्तिप्रधान होने के कारण जैनधर्म में विवाह-व्यवस्था को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। धार्मिक दृष्टि से वह स्वपत्नी या स्वपति सन्तोषव्रत की व्यवस्था करता है जिसका तात्पर्य है व्यक्ति को अपनी काम-वासना को स्वपति या स्वपत्नी तक ही सीमित रखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यदि ब्रह्मचर्य का पालन सम्भव न हो तो विवाह कर लेना चाहिए। विवाह-विधि के सम्बन्ध में जैनाचार्यों की स्पष्ट धारणा क्या थी, इसकी सूचना हमें आगमों और आगमिक व्याख्याओं में नहीं प्राप्त होती है। जैन-विवाह विधि का प्रचलन पर्याप्त रूप से परवर्ती है और दक्षिण के दिग्म्बर आचार्यों की ही देन है जो हिन्दू-विवाह-विधि का जैनीकरण मात्र है। उत्तर भारत के श्वेताम्बर जैनों में तो विवाह विधि को हिन्दू धर्म के अनुसार ही सम्पादित किया जाता है। आज भी श्वेताम्बर जैनों में अपनी कोई विवाह पद्धति नहीं है। जैन आगमों और आगमिक व्याख्याओं से जो सूचना हमें मिलती है उसके अनुसार योगलिक काल में युगल रूप से उत्पन्न होने वाले भाई-बहन ही युवावस्था में पति-पत्नी का रूप ले लेते थे। जैन पुराणों के अनुसार सर्वप्रथम ऋषभदेव से ही विवाह प्रथा का आरम्भ हुआ।<sup>१</sup> उन्होंने भाई-बहनों के बीच स्थापित होने वाले यौन सम्बन्ध (विवाह-प्रणाली) को अस्वीकार कर दिया। उनकी दोनों पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी ने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का निर्णय किया। फलतः भरत और बाहुबलि का विवाह अन्य वंशों की कन्याओं से किया गया। जैन साहित्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आगमिक काल तक स्त्री विवाह सम्बन्धी निर्णयों को लेने में स्वतन्त्र थीं और अधिकांश विवाह उसकी सम्मति से ही किये जाते थे जैसा कि ज्ञाता में मल्लि<sup>२</sup> और द्रौपदी के कथानकों से ज्ञात होता है। ज्ञाताधर्मकथा में पिता स्पष्ट रूप से पुत्री से कहता है कि यदि मैं तेरे लिए पति चुनता हूँ तो वह तेरे लिए सुख-दुःख का कारण हो सकता है, इसलिए अच्छा यही होगा तू अपने पति का चयन स्वयं ही कर। मल्ली और द्रौपदी के लिये स्वयम्बरों का आयोजन किया गया था।

आगम ग्रन्थों से जो सूचना मिलती है उसके आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि प्रागैतिहासिक युग और आगम युग में सामान्यतया स्त्री को अपने पति का चयन करने में स्वतन्त्रता थी। यह भी उसकी

१. आवश्यकचूणि, भाग १, पृष्ठ १५२।

२. आवश्यकचूणि भाग १, पृ० १४२-१४३।



इच्छा पर निर्भर था कि वह विवाह करे या न करे। पूर्वयुग में ब्राह्मी, सुन्दरी, मल्लि, आगमिक युग में चन्दनबाला, जयन्ती आदि ऐसी अनेक स्त्रियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्यपालन स्वीकार किया और विवाह अस्वीकार कर दिया। आगमिक व्याख्याओं में हमें विवाह के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ने जैन आगमों और आगमिक व्याख्याओं में उपलब्ध विवाह के विविध रूपों का विवरण प्रस्तुत किया है यथा—स्वयंवर, माता-पिता द्वारा आयोजित विवाह, गन्धर्व विवाह (प्रेमविवाह), कन्या को बलपूर्वक ग्रहण करके विवाह करना, पारस्परिक आकर्षण या प्रेम के आधार पर विवाह, वर या कन्या की योग्यता देखकर विवाह, कन्यापक्ष को शुल्क देकर विवाह और भविष्यवाणी के आधार पर विवाह।<sup>१</sup> किन्तु हमें आगम एवं आगमिक व्याख्याओं में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिल सका जहाँ जैनाचार्यों ने गुण-दोषों के आधार पर इनमें से किसी का समर्थन या निषेध किया हो या यह कहा हो कि यह विवाह-पद्धति उचित है या अनुचित है। यद्यपि विवाह के सम्बन्ध में जैनों का अपना कोई स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं था पर इतना अवश्य माना जाता था कि यदि कोई ब्रह्मचर्य पालन करने में असफल हो तो उसे विवाह-बन्धन मान लेना चाहिए। जहाँ तक स्वयं-वर विधि का प्रश्न है निश्चित ही नारी-स्वातन्त्र्य को दृष्टि से यह विधि महत्त्वपूर्ण थी। किन्तु जनसामान्य में जिस विधि का प्रचलन था वह माता-पिता के द्वारा आयोजित विधि ही थी। यद्यपि इस विधि में स्त्री और पुरुष दोनों की स्वतंत्रता खण्डित होती थी। जैनकथा साहित्य में ऐसे अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं जहाँ बलपूर्वक अपहरण करके विवाह सम्पन्न हुआ; इस विधि में नारी की स्वतंत्रता पूर्णतया खण्डित हो जाती थी; क्योंकि अपहरण करके विवाह करने का अर्थ मात्र यह मानना नहीं है कि स्त्री को चयन की स्वतंत्रता ही नहीं है, अपितु यह तो उसे लूट को सम्पत्ति मानने जैसा है।

जहाँ तक आगमिक व्याख्याओं का प्रश्न है उनमें अधिकांश विवाह माता-पिता के द्वारा आयोजित विवाह ही हैं केवल कुछ प्रसंगों में ही स्वयंवर एवं गन्धर्व विवाह के उल्लेख मिलते हैं जो आगम युग एवं पूर्व काल के हैं। माता-पिता के द्वारा आयोजित इस विवाह-विधि में स्त्री-पुरुषों की समकक्षता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। यद्यपि यह सत्य है:

१. जैनागम साहित्य में भारतीय समाज,—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन,  
पृ० २५३-२६६।

कि जैनाचार्यों ने विवाह-विधि के सम्बन्ध में गम्भीरता से चिन्तन नहीं किया किन्तु यह सत्य है कि उन्होंने स्त्री को गरिमाहीन बनाने का प्रयास भी नहीं किया। जहाँ हिन्दू-परम्परा में विवाह स्त्री के लिए बाध्यता थी। वहीं जैन-परम्परा में ऐसा नहीं माना गया। प्राचीनकाल से लेकर अद्यावधि विवाह करने न करने के प्रश्न को स्त्री-विवेक पर छोड़ दिया गया। जो स्त्रियाँ यह समझती थीं कि वे अविवाहित रहकर अपनी साधना कर सकेंगी उन्हें बिना विवाह किये ही दीक्षित होने का अधिकार था। विवाह-संस्था जैनों के लिये ब्रह्मचर्य की साधना में सहायक होने के रूप में ही स्वीकार की गई। जैनों के लिए विवाह का अर्थ था अपनी वासना को संयमित करना। केवल उन्हीं लोगों के लिए विवाह संस्था में प्रवेश आवश्यक माना गया था जो पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ पाते हों अथवा विवाह के पूर्व पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन का व्रत नहीं ले चुके हैं। अतः हम कह सकते हैं कि जैनों ने ब्रह्मचर्य की आंशिक साधना के अंग के रूप में विवाह संस्था को स्वीकार करके भी नारी को स्वतन्त्र निर्णय शक्ति को मान्य करके उसकी गरिमा को खण्डित नहीं होने दिया।

### बहुपति और बहुपत्नी प्रथा

विवाह संस्था के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बहुविवाह का भी है। इसके दो रूप हैं बहुपत्नी प्रथा और बहुपति प्रथा। यह स्पष्ट है कि द्रौपदी के एक अपवाद को छोड़कर हिन्दू और जैन दोनों ही परम्पराओं ने नारी के सम्बन्ध में एक-पति प्रथा की अवधारणा को ही स्वीकार किया और बहुपति प्रथा को धार्मिक दृष्टि से अनुचित माना गया। जैनाचार्यों ने द्रौपदी के बहुपति होने की अवधारणा को इस आधार पर औचित्यपूर्ण बनाने का प्रयास किया है कि सुकमालिका आर्या के भव में उसने अपने तप के प्रताप से पाँच पति प्राप्त करने का निदान (निश्चय कर) लिया था।<sup>१</sup> अतः इसे पूर्वकर्म का फल मानकर सन्तोष किया गया। किन्तु दूसरी ओर पुरुष के सम्बन्ध में बहुपत्नी प्रथा की स्पष्ट अवधारणा आगमों और आगमिक व्याख्या साहित्य में मिलती है। इनमें ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं जहाँ पुरुषों को बहुविवाह करते दिखाया गया है। दुःख तो यह है कि उनकी इस प्रवृत्ति की समालोचना भी नहीं की गई है। अतः उस युग में जैनाचार्य इस सम्बन्ध में तटस्थ भाव रखते थे, यही कहा जा सकता है।

१. ज्ञाताधर्मकथा अध्याय १६, सूत्र, ७२-७४।

क्योंकि किसी जैनाचार्य ने बहुविवाह को अच्छा कहा हो, ऐसा भी कोई सन्दर्भ नहीं मिलता है। उपासकदशा में श्रावक के स्वपत्नी सन्तोषव्रत के अतिचारों का उल्लेख मिलता है, उसमें 'परविवाहकरण' को अतिचार या दोष माना गया है। 'परविवाहकरण' की व्याख्या में उसका एक अर्थ दूसरा विवाह करना बताया गया है अतः हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि जैनों का आदर्श एक पत्नीव्रत ही रहा है।

बहुपत्नी प्रथा के आविर्भाव पर विचार करें तो हम पाते हैं कि यौगलिक काल तक बहुपत्नी प्रथा प्रचलित नहीं थी। आवश्यकचूर्ण के अनुसार सर्वप्रथम ऋषभदेव ने दो विवाह किये थे। किन्तु उनके लिये दूसरा विवाह इसलिये आवश्यक हो गया था कि एक युगल में पुरुष की अकाल मृत्यु हो जाने के कारण उस स्त्री को सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से यह आवश्यक था। किन्तु जब आगे चलकर स्त्री को एक सम्पत्ति के रूप में देखा जाने लगा तो स्वाभाविक रूप से स्त्री के प्रति अनुग्रह को भावना के आधार पर नहीं, अपितु अपनी कामवासनापूर्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए बहुविवाह की प्रथा आरम्भ हो गयी। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि समाज में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी किन्तु इसे जैनधर्म सम्मत एक आचार मानना अनुचित होगा। क्योंकि जब जैनों में विवाह को ही एक अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया गया तो बहुविवाह को धार्मिक कर्तव्य के रूप में स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैन आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य में यद्यपि पुरुष के द्वारा बहुविवाह के अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं किन्तु हमें एक भी ऐसा सन्दर्भ नहीं मिलता जहाँ कोई व्यक्ति गृहस्थोपासक के व्रतों को स्वीकार करने के पश्चात् बहुविवाह करता है। यद्यपि ऐसे सन्दर्भ तो हैं कि मुनिव्रत या श्रावकव्रत स्वीकार करने के पूर्व अनेक गृहस्थोपासकों को एक से अधिक पत्नियाँ थीं। किन्तु व्रत स्वीकार करने के पश्चात् किसी ने अपनी पत्नियों की संख्या में वृद्धि की हो, ऐसा एक भी सन्दर्भ मुझे नहीं मिला। आदर्श स्थिति तो एक-पत्नी प्रथा को ही माना जाता था। उपासकदशा में १० प्रमुख उपासकों में केवल एक की ही एक से अधिक पत्नियाँ थीं। शेष सभी को एक-एक पत्नी थी साथ ही उसमें श्रावकों के व्रतों के जो अतिचार बताये गये हैं उनमें स्वपत्नी सन्तोष व्रत का एक अतिचार 'परविवाहकरण' है।<sup>१</sup> यद्यपि

कुछ जैनाचार्यों ने 'परविवाहकरण' का अर्थ स्व-सन्तान के अतिरिक्त अन्यो की सन्तानों का विवाह-सम्बन्ध करवाना माना है किन्तु उपासक-दशांग की टीका में आचार्य अभयदेव ने इसका अर्थ एक से अधिक विवाह करना माना है।<sup>१</sup> अतः हम यह कह सकते हैं कि धार्मिक आधार पर जैनधर्म बहुपत्नी प्रथा का समर्थक नहीं है। बहुपत्नी-प्रथा का उद्देश्य तो वासना में आकण्ठ डूबना है, जो निवृत्तिप्रधान जैनधर्म को मूल भावना के अनुकूल नहीं है। जैन ग्रन्थों में जो बहुपत्नी प्रथा की उपस्थिति के संकेत मिलते हैं वे उस युग की सामाजिक स्थिति के सूचक हैं। आगम साहित्य में पार्श्व, महावीर एवं महावीर के नौ प्रमुख उपासकों की एक पत्नी मानी गई है।

### विधवा विवाह एवं नियोग—

यद्यपि आगमिक व्याख्या साहित्य में नियोग और विधवा-विवाह के कुछ सन्दर्भ उपलब्ध हो जाते हैं किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह भी जैनाचार्यों द्वारा समर्थित नहीं है। निशीथचूर्णि में एक राजा को अपनी पत्नी से नियोग के द्वारा सन्तान उत्पन्न करवाने के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि जिस प्रकार खेत में बीज किसी ने भी डाला हो फसल का अधिकारी भूस्वामी ही होता है। उसी प्रकार स्वस्त्री से उत्पन्न सन्तान का अधिकारी उसका पति ही होता है।<sup>२</sup> यह सत्य है कि एक युग में भारत में नियोग की परम्परा प्रचलित रही किन्तु निवृत्तिप्रधान जैनधर्म ने न तो नियोग का समर्थन किया न ही विधवा विवाह का। क्योंकि उसकी मूलभूत प्रेरणा यही रही कि जब भो किसी स्त्री या पुरुष को कामवासना से मुक्त होने का अवसर प्राप्त हो वह उससे मुक्त हो जाय। जैन आगम एवं आगमिक व्याख्याओं में हजारों सन्दर्भ प्राप्त होते हैं जहाँ पति की मृत्यु के पश्चात् विधवायें भिक्षुणी बनकर संघ की शरण में चली जाती थीं। जैन संघ में भिक्षुणियों की संख्या के अधिक होने का एक कारण यह भी था कि भिक्षुणी संघ विधवाओं के सम्मानपूर्ण एवं सुरक्षित जीवन जीने का आश्रयस्थल था। यद्यपि कुछ लोगों के द्वारा यह कहा जाता है कि ऋषभदेव ने मृत युगल पत्नी से विवाह करके विधवा-विवाह की परम्परा को स्थापित किया था। किन्तु आवश्यक चूर्णि से स्पष्ट होता है कि वह स्त्री मृत युगल की बहन थी, पत्नी नहीं। क्योंकि उस

१. उपासकदशा, अभयदेवकृतवृत्ति पृ० ४३।

२. निशीथचूर्णि, भाग २, ३८१।

युगल में पुरुष की मृत्यु बालदशा में हो चुकी थी। अतः इस आधार पर विधवा विवाह का समर्थन नहीं होता है। जैनधर्म जैसे निवृत्तिप्रधान धर्म में विधवा-विवाह को मान्यता प्राप्त नहीं थी। यद्यपि भारतीय समाज में ये प्रथाएँ प्रचलित थीं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है।

### विधुर-विवाह

जब समाज में बहु-विवाह को समर्थन हो तो विधुर-विवाह को मान्य करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। किन्तु इसे भी जैनधर्म में धार्मिक दृष्टि से समर्थन प्राप्त था, यह नहीं कहा जा सकता। पत्नी की मृत्यु के पश्चात् आदर्श स्थिति तो यही मानी गई थी कि व्यक्ति वैराग्य ले ले। मात्र यही नहीं अनेक स्थितियों में पति, पत्नी के भिक्षुणी बनने पर स्वयं भी भिक्षु बन जाता है। यद्यपि सामाजिक जीवन में विधुर-विवाह के अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं, जिनके संकेत आगमिक व्याख्या साहित्य में मिलते हैं।

### विवाहेतर यौन सम्बन्ध

जैनधर्म में पति-पत्नी के अतिरिक्त अन्यत्र यौन सम्बन्ध स्थापित करना धार्मिक दृष्टि से सदैव ही अनुचित माना गया। वेश्यागमन और परस्त्रीगमन दोनों को अनैतिक कर्म बताया गया। फिर भी न केवल गृहस्थ स्त्री-पुरुषों में अपितु भिक्षु-भिक्षुणियों में भी अनैतिक यौन सम्बन्ध स्थापित हो जाते थे, आगमिक व्याख्या साहित्य में ऐसे सैकड़ों प्रसंग उल्लिखित हैं। जैन आगमों और उनकी टीकाओं आदि में ऐसी अनेक स्त्रियों का उल्लेख मिलता है जो अपने साधना-मार्ग से पतित होकर स्वेच्छाचारी बन गयी थीं। ज्ञाताधर्मकथा, उसकी टीका, आवश्यकचूर्णि आदि में पार्श्वपत्य परम्परा की अनेक शिथिलाचारी साधियों के उल्लेख मिलते हैं।<sup>१</sup> ज्ञाताधर्मकथा में द्रौपदी का पूर्व जीवन भी इसी रूप में वर्णित है। साधना काल में वह वेश्या को पाँच पुरुषों से सेवित देखकर स्वयं पाँच पतियों की पत्नी बनने का निदान कर लेती है।<sup>२</sup> निशीथचूर्णि में पुत्रियों और पुत्रवधू के जार अथवा धूर्त व्यक्तियों के साथ भागने के उल्लेख हैं। आगमिक व्याख्याओं में मुख्यतः निशीथचूर्णि बृहत्कल्पभाष्य,

१. ज्ञाताधर्मकथा, द्वितीयश्रुतस्कन्ध, प्रथम वर्ग, अध्याय २-५

द्वितीय वर्ग, अध्याय ५, तृतीय वर्ग, अध्याय १-५४

२. ज्ञाताधर्मकथा, प्रथमश्रुतस्कन्ध, अध्याय १६, सूत्र ७२-७४।

व्यवहारभाष्य आदि में ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जहाँ स्त्रियाँ अवैध सन्तानों को भिक्षुओं के निवास स्थानों पर छोड़ जाती थीं। आगम और आगमिक व्याख्यायें इस बात की साक्षी हैं कि स्त्रियाँ सम्भोग के लिए भिक्षुओं को उत्तेजित करती थीं<sup>१</sup> उन्हें इस हेतु विवश करती थीं और उनके द्वारा इन्कार किये जाने पर उन्हें बदनाम किये जाने का भय दिखाती थीं। आगमिक व्याख्याओं में इन उपरिस्थितियों में भिक्षु को क्या करना चाहिए इस सम्बन्ध में अनेक आपवादिक नियमों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि शीलभंग सम्बन्धी अपराधों के विविध रूपों एवं सम्भवनाओं के उल्लेख जैन परम्परा में विस्तार से मिलते हैं किन्तु इस चर्चा का उद्देश्य साधक को वासना सम्बन्धी अपराधों से विमुख बनाना ही रहा है। यह जीवन का यथार्थ तो था किन्तु जैनाचार्य उसे जीवन का विकृत-पक्ष मानते थे और उस आदर्श समाज की कल्पना करते हैं, जहाँ इसका पूर्ण अभाव हो।

आगमिक व्याख्याओं में उन घटनाओं का भी उल्लेख है जिनके कारण स्त्रियों को पुरुषों की वासना का शिकार होना पड़ा था। पुरुषों की वासना का शिकार होने से बचने के लिए भिक्षुणियों को अपनी शील-सुरक्षा में कौन-कौन-सी सतर्कता बरतनी होती थी यह भी उल्लेख निशीथ और बृहत्कल्प दोनों में ही विस्तार से मिलता है। रूपवती भिक्षुणियों को मन-चले युवकों और राजपुरुषों की कुदृष्टि से बचने के लिए इस प्रकार का वेष धारण करना पड़ता था ताकि वे कुरूप प्रतीत हों। भिक्षुणियों को सोते समय क्या व्यवस्था करनी चाहिए इसका भी बृहत्कल्पभाष्य में विस्तार से वर्णन है। भिक्षुणी संघ में प्रवेश करने वालों की पूरी जाँच की जाती थी। प्रतिहारी भिक्षुणी उपाश्रय के बाहर दण्ड लेकर बैठती थी। शील सुरक्षा के जो विस्तृत विवरण हमें आगमिक व्याख्याओं में मिलते हैं उससे स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष वर्ग स्त्रियों एवं भिक्षुणियों को अपनी वासना का शिकार बनाने में कोई कमी नहीं रखता था। पुरुष द्वारा बलात्कार किये जाने पर और ऐसी स्थिति में गर्भ रह जाने पर संघ उस भिक्षुणी के प्रति सद्भावनापूर्वक व्यवहार करता था तथा उसके गर्भ की सुरक्षा के प्रयत्न भी किये जाते थे। प्रसूत बालक को जब वह उस स्थिति में हो जाता था कि वह माता के बिना रह सके तो उसे उपा-

१. निशीथचूणि, भाग ३ पृ० २६७।

२. निशीथचूणि भाग २, पृ० १७३।

सक को सौंपकर अथवा भिक्षु संघ को सौंपकर ऐसी भिक्षुणी पुनः भिक्षुणी संघ में प्रवेश पा लेती थी।<sup>१</sup> ये तथ्य इस बात के सूचक हैं कि सदाचारी नारियों के संरक्षण में जैनसंघ सदैव सजग था।

### नारी-रक्षा

बलात्कार किये जाने पर किसी भिक्षुणी की आलोचना का अधिकार नहीं था। इसके विपरीत जो व्यक्ति ऐसी भिक्षुणी की आलोचना करता उसे ही दण्ड का पात्र माना जाता था। नारी की मर्यादा की रक्षा के लिए जैनसंघ सदैव ही तत्पर रहता था। निशीथचूर्णि में उल्लेखित कालकाचार्य की कथा में इस बात का प्रमाण है कि अहिंसा का प्राणपण से पालन करने वाला भिक्षुसंघ भी नारी की गरिमा को खण्डित होने की स्थिति में दुराचारियों को दण्ड देने के लिए शस्त्र पकड़कर सामने आ जाता था। निशीथचूर्णि में कालकाचार्य की कथा इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आचार्य ने भिक्षुणी<sup>२</sup> (बहन सरस्वती) की शील-सुरक्षा के लिये गर्दभिल्ल के विरुद्ध शकों की सहायता लेकर पूरा संघर्ष किया था। निशीथ, बृहत्कल्पभाष्य आदि में स्पष्ट रूप से ऐसे उल्लेख हैं कि यदि संघस्थ भिक्षुणियों की शील-सुरक्षा के लिए दुराचारी व्यक्ति की हत्या करने का भी अपरिहार्य हो जाये तो ऐसी हत्या को भी उचित माना गया। नारी के शील की सुरक्षा करनेवाले ऐसे भिक्षु को संघ में सम्मानित भी किया जाता था। बृहत्कल्पभाष्य में कहा गया है कि जल, अग्नि, चोर और दुष्काल की स्थिति में सर्वप्रथम स्त्री की रक्षा करनी चाहिए। इसी प्रकार डूबते हुए श्रमण और भिक्षुणी में पहले भिक्षुणी को और क्षुल्लक और क्षुल्लिका में से क्षुल्लिका की रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार नारी की रक्षा को प्राथमिकता दी गई।

### सती प्रथा और जैनधर्म

उत्तरमध्य युग में नारी उत्पीड़न का सबसे बीभत्स रूप सती प्रथा बन गया था, यदि हम सती प्रथा के सन्दर्भ में जैन आगम और व्याख्या साहित्य को देखें तो स्पष्ट रूप से हमें एक भी ऐसी घटना का उल्लेख नहीं मिलता जहाँ पत्नी पति के शव के साथ जली हो या जला दी गयी हो। यद्यपि निशीथचूर्णि में एक ऐसा उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार सौपारक के पाँच सौ व्यापारियों को कर न देने के कारण राजा ने उन्हें

१. निशीथचूर्णि, भाग १, पृ० १२९।

२. निशीथचूर्णि, भाग ३, पृ० २३४।

जला देने का आदेश दे दिया था और उक्त उल्लेख के अनुसार उन व्यापारियों की पत्नियाँ भी उनकी चिताओं में जल गयी थीं।<sup>१</sup> लेकिन जैनाचार्य इसका समर्थन नहीं करते हैं। पुनः इस आपवादिक उल्लेख के अतिरिक्त हमें जैन साहित्य में इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध नहीं होते हैं, महानिशीथ में इससे भिन्न यह उल्लेख भी मिलता है कि किसी राजा की विधवा कन्या सती होना चाहती थी किन्तु उसके पितृकुल में यह रिवाज नहीं था अतः उसने अपना विचार त्याग दिया।<sup>२</sup> इससे लगता है कि जैनाचार्यों ने पति की मृत्योपरान्त स्वेच्छा से भी अपने देह-त्याग को अनुचित ही माना है और इस प्रकार के मरण को बाल-मरण या मूर्खता ही कहा है। सती प्रथा का धार्मिक समर्थन जैन आगम साहित्य और उसकी व्याख्याओं में हमें कहीं नहीं मिलता है।

यद्यपि आगमिक व्याख्याओं में दधिवाहन की पत्नी एवं चन्दना की माता धारिणी आदि के कुछ ऐसे उल्लेख अवश्य हैं जिनमें ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त देह-त्याग किया गया है<sup>३</sup> किन्तु यह अवधारणा सती प्रथा की अवधारणा से भिन्न है। जैन धर्म और दर्शन यह नहीं मानता है कि मृत्यु के बाद पति का अनुगमन करने से अर्थात् जीवित चिता में जल मरने से पुनः स्वर्गलोक में उसी पति की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत जैनधर्म अपनी कर्म सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानता है कि पति-पत्नी अपने-अपने कर्मों और मनोभावों के अनुसार ही विभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं। यद्यपि परवर्ती जैन कथा साहित्य में हमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं जहाँ एक भव के पति-पत्नी आगामी अनेक भवों में जीवनसाथी बने, किन्तु इसके विरुद्ध भी उदाहरणों की जैन कथा साहित्य में कमी नहीं है।

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि धार्मिक आधार पर जैन धर्म सतीप्रथा का समर्थन नहीं करता। जैन धर्म के सती प्रथा के समर्थक न होने के कुछ सामाजिक कारण भी रहे हैं। व्याख्या साहित्य में ऐसी अनेक कथाएँ वर्णित हैं जिनके अनुसार पति की मृत्यु के पश्चात्

१. (अ) निशीथचूर्णि, भाग २, पृ० ५९-६०।

(ब) तेसि पंच महिलसताइं, ताणि वि अगिं पावट्ठाणि।

—निशीथचूर्णि, भाग ४, पृ० १४।

२. महानिशीथ पृ० २९। देखें, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २७१।

३. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० ३१८।



पत्नी न केवल पारिवारिक दायित्व का निर्वाह करती थी, अपितु पति के व्यवसाय का संचालन भी करती थीं। शालिभद्र की माता भद्रा को राज-गृह की एक महत्त्वपूर्ण श्रेष्ठी और व्यापारी निरूपित किया गया है जिसके वैभव को देखने के लिये श्रेणिक भी उसके घर आया था। आगमों और आगमिक व्याख्याओं में ऐसे अनेक उल्लेख हैं जहाँ कि स्त्री पति की मृत्यु के पश्चात् विरक्त होकर भिक्षुणी बन जाती थी। यह सत्य है कि जैन भिक्षुणी संघ विधवाओं, कुमारियों और परित्यक्ताओं का आश्रय-स्थल था। यद्यपि जैन आगम साहित्य एवं व्याख्या साहित्य दोनों में हमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं जहाँ पति और पुत्रों के जोवित रहते हुए भी पत्नी या माता भिक्षुणी बन जाती थी। जाताधर्मकथा में द्रौपदी पति और पुत्रों की सम्मति से दीक्षित हुई थी किन्तु इनके अलावा ऐसे उदाहरणों को भी विपुलता देखी जाती है जहाँ पत्नियाँ पति के साथ अथवा पति एवं पुत्रों की मृत्यु के उपरान्त विरक्त होकर संन्यास ग्रहण कर लेती थीं। कुछ ऐसे उल्लेख भी मिले हैं जहाँ स्त्री आजीवन ब्रह्मचर्य को धारण करके या तो पितृगृह में ही रह जाती थी अथवा दीक्षित हो जाती थी। जैन परम्परा में भिक्षुणी संस्था एक ऐसा आधार रही है जिसने हमेशा नारी को संकट से उबारकर न केवल आश्रय दिया है, अपितु उसे सम्मान और प्रतिष्ठा का जीवन जीना सिखाया है।

जैन भिक्षुणी संघ, उन सभी स्त्रियों के लिये जो विधवा, परित्यक्ता अथवा आश्रयहीन होती थीं, शरणदाता होता था। अतः जैन धर्म में सती प्रथा को कोई प्रश्रय नहीं मिला। जब-जब भी नारी पर कोई अत्याचार किये गये, जैन भिक्षुणी संघ उसके लिए रक्षाकवच बना क्योंकि भिक्षुणी संघ में प्रवेश करने के बाद न केवल वह पारिवारिक उत्पीड़न से बच सकती थी अपितु एक सम्मानपूर्ण जीवन भी जी सकती थी। आज भी विधवाओं, परित्यक्ताओं, पिता के पास दहेज के अभाव, कुरूपता, अथवा अन्य किन्हीं कारणों से अविवाहित रहने के लिये विवश कुमारियों आदि के लिये जैन भिक्षुणी संघ आश्रयस्थल है। जैन भिक्षुणी संघ ने नारी की गरिमा और उसके सतीत्व दोनों की रक्षा की। यही कारण था कि सती-प्रथा जैसी कुत्सित प्रथा जैन धर्म में कभी भी नहीं रही।

महानिशीथ में एक स्त्री को सती होने का मानस बनाने पर भी अपनी कुल-परम्परा में सती प्रथा का प्रचलन नहीं होने के कारण अपने निर्णय को बदलता हुआ देखते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि जैनाचार्यों की दृष्टि सतीप्रथा विरोधी थी। जैन आचार्य और साध्वियाँ विध-

वाओं को सती बनने से रोककर उन्हें संघ में दीक्षित होने की प्रेरणा देते थे। जैन परम्परा में ब्राह्मी, सुन्दरी और चन्दना आदि को सती कहा गया है और तीर्थंकरों के नाम-स्मरण के साथ-साथ आज भी १६ सतियों का नाम स्मरण किया जाता है, किन्तु इन्हें सती इसलिये कहा गया कि ये अपने शील की रक्षा हेतु या तो अविवाहित रहीं या पति की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने अपने चरित्र एवं शील को सुरक्षित रखा। आज जैन साध्वियों के लिये एक बहुप्रचलित नाम महासती है उसका आधार शील का पालन ही है। जैन परम्परा में आगमिक व्याख्याओं और पौराणिक रचनाओं के पश्चात् जो प्रबन्ध साहित्य लिखा गया, उसमें सर्वप्रथम सती प्रथा का ही जैनीकरण किया हुआ एक रूप हमें देखने को मिलता है। तेजपाल—वस्तुपाल प्रबन्ध में बताया गया है कि तेजपाल और वस्तुपाल की मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नियों ने अनशन करके अपने प्राण त्याग दिये।<sup>१</sup> यहाँ पति की मृत्यु के पश्चात् शरीर त्यागने का उपक्रम तो है किन्तु उसका स्वरूप सौम्य और वैराग्य प्रधान बना दिया गया है। वस्तुतः यह उस युग में प्रचलित सती प्रथा की जैनधर्म में क्या प्रतिक्रिया हुई थी, उसका सूचक है।

### गणिकाओं की स्थिति

गणिकायें ओर वेश्यायें भारतीय समाज का आवश्यक घटक रही हैं। उन्हें अपरिगृहीता-स्त्री माना जाये या परिगृहीता इसे लेकर जैन आचार्यों में विवाद रहा है। क्योंकि आगमिक काल से उपासक के लिये हम अपरिगृहीता-स्त्री से सम्भोग करने का निषेध देखते हैं। भ० महावीर के पूर्व पार्श्वपत्य परम्परा के शिथिलाचारी श्रमण यहाँ तक कहने लगे थे कि बिना विवाह किये अर्थात् परिगृहीत किये यदि कोई स्त्री कामवासना की आकांक्षा करती है तो उसके साथ सम्भोग करने में कोई पाप नहीं है।<sup>२</sup> ज्ञातव्य है कि पार्श्व की परम्परा में ब्रह्मचर्य व्रत अपरिग्रह के अधीन माना गया था क्योंकि उस युग में नारी को भी सम्पत्ति माना जाता था, चूँकि ऐसी स्थिति में अपरिग्रह के व्रत का भंग नहीं था इसलिये शिथिलाचारी

१. मन्त्रिण्यौ ललितादेवी सौख्यौ अनशनेन मन्नतुः । —प्रबन्धकोश, पृष्ठ १२९.

२. एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया ।

इत्थीवसंगया बाला, जिणसासणपरम्मूहा ॥

जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तंगं ।

एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ॥—सूत्रकृतांग, १/३/४/९-१०.

श्रमण उसका विरोध कर रहे थे। यही कारण था कि भ० महावीर ने ब्रह्मचर्य को जोड़ा था।

चूँकि वेश्या या गणिका परस्त्री नहीं थी, अतः परस्त्री-निषेध के माथ स्वपत्नी संतोषव्रत को भी जोड़ा गया और उसके अतिचारों में अपरि-गृहीतागमन को भी सम्मिलित किया गया और कहा गया कि गृहस्थ उपासक को अपरिगृहीत (अविवाहित) स्त्री से सम्भोग नहीं करना चाहिये। पुनः जब यह माना गया कि परिग्रहण के बिना सम्भोग सम्भव नहीं, साथ ही द्रव्य देकर कुछ समय के लिये गृहीत वेश्या भी परिगृहीत की कोटि में आ जाती है, तो परिणामस्वरूप धनादि देकर अल्पकाल के लिए गृहीत स्त्री ( इत्वरिका )<sup>१</sup> के साथ भी सम्भोग का निषेध किया गया और गृहस्थ उपासक के लिए आजीवन हेतु गृहीत अर्थात् विवाहित स्त्री के अतिरिक्त सभी प्रकार के यौन सम्बन्ध निषिद्ध माने गये। जैनाचार्यों में सोमदेव ( १०वीं शती ) एक ऐसे आचार्य थे, जिन्होंने श्रावक के स्वपत्नी संतोष व्रत में, वेश्या को उपपत्नी मानकर उसका भोग राजा और श्रेष्ठी वर्ग के लिए विहित मान लिया था—किन्तु यह एक अपवाद ही था।

यद्यपि आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्य सभी लोगों के साथ जैनधर्म प्रति श्रद्धावान सामान्यजन भी किसी न किसी रूप में गणिकाओं से सम्बद्ध रहा है। आगमों में उल्लेख है कि कृष्ण वासुदेव की द्वारिका नगरी में अनंगसेना प्रमुख अनेक गणिकाएँ भी थीं।<sup>२</sup> स्वयं ऋषभदेव के नोलांजना का नृत्य देखते समय उसकी मृत्यु से प्रतिबोधित होने की कथा दिगम्बर परम्परा में सुविश्रुत है।<sup>३</sup> कुछ विद्वान् मथुरा में इसके अंकन को भी स्वीकार करते हैं। ज्ञाता आदि में देवदत्ता आदि गणिकाओं की समाज में सम्मानपूर्ण स्थिति की सूचना मिलती है।<sup>४</sup> समाज के सम्पन्न परिवारों के लोगों के वेश्याओं से सम्बन्ध थे, इसकी सूचना आगम, आगमिक व्याख्या साहित्य और जैन पौराणिक साहित्य में विपुल मात्रा में

१. उपासकदशा १, ४८ ।

२. अनंगसेना पामोदखाणं अणेगाणं गणियासाहसीणं.....। —आवश्यकचूर्णि भाग १, पृ० ३५६

३. आदिपुराण, पृ० १२५, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९१९ ।

४. अड्ढा जाव.....सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगतं आणा ईसर सेणावच्चं कारेमाणी.....।

उपलब्ध है। कान्हड कठिआरा और स्थूलभद्र के आख्यान सुविश्रुत हैं, किन्तु इन सब उल्लेखों से यह मान लेना कि वेश्यावृत्ति जैनधर्मसम्मत थी या जैनाचार्य इसके प्रति उदासीन भाव रखते थे, सबसे बड़ी भ्रान्ति होगी। हम यह पूर्व में संकेत कर ही चुके हैं कि जैनाचार्य इस सम्बन्ध में सजग थे और किसी भी स्थिति में इसे औचित्यपूर्ण नहीं मानते थे। सातवीं-आठवीं शती में तो जैनधर्म का अनुयायी बनने की प्रथम शर्त यही थी कि व्यक्ति सप्त दुर्व्यसन का त्याग करे। इसमें परस्त्रीगमन और वेश्यागमन दोनों निषिद्ध माने गये थे।<sup>१</sup> उपासकदशा में “असतीजन पोषण” श्रावक के लिए निषिद्ध कर्म था।<sup>२</sup>

आगमिक व्याख्याओं में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अनेक वेश्याओं और गणिकाओं की अपनी नैतिक मर्यादाएँ थीं, वे उनका कभी उल्लंघन नहीं करती थीं। कान्हडकठिआरा और स्थूलभद्र के आख्यान इसके प्रमाण हैं।<sup>३</sup> ऐसी वेश्याओं और गणिकाओं के प्रति जैनाचार्य अनुदार नहीं थे, उनके लिए धर्मसंघ में प्रवेश के द्वार खुले थे, वे श्राविकाएँ बन जाती थीं। कोशा ऐसी वेश्या थी, जिसकी शाला में जैन मुनियों को निःसंकोच भाव से चातुर्मास व्यतीत करने की अनुज्ञा आचार्य दे देते थे। मथुरा के अभिलेख इस बात के साक्ष्य हैं कि गणिकाएँ जिनमन्दिर और आयागपट्ट (पूजापट्ट) बनवाती थीं।<sup>४</sup> यह जैनाचार्यों का उदार दृष्टिकोण था, जो इस पतित वर्ग का उद्धार कर उसे प्रतिष्ठा प्रदान करता था।

### नारी-शिक्षा

नारी-शिक्षा के सम्बन्ध में जैन आगमों और आगमिक व्याख्याओं से हमें जो सूचना मिलती है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में नारी को समुचित शिक्षा प्रदान की जाती थी। अपेक्षाकृत परवर्ती आगम जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, आवश्यकचूर्णि एवं दिगम्बर परम्परा के आदिपुराण आदि में उल्लेख है कि ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को गणित और लिपि विज्ञान की शिक्षा दी थी।

१. देखें, जैन, बौद्ध और गीता का आचार दर्शन, भाग २, डा० सागरमल जैन, पृ० २६८।
२. ....असईजणपोसणया --उपासकदशा १/५१
३. साविका जाया अर्बंभस्स पच्चक्खाइ णण्णत्य रायाभिपोगेणं । --आवश्यक-चूर्णि, भाग १, पृ० ५५४-५५।
४. जैनशिलालेख संग्रह भाग २ अभिलेख क्रमांक ८।

मात्र यही नहीं, ज्ञाताधर्मकथा और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में स्त्री की चौंसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। यद्यपि यहाँ इनके नाम नहीं दिये गये हैं तथापि यह अवश्य सूचित किया गया है कि कन्याओं को इनकी शिक्षा दी जाती है। सर्वप्रथम जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका में इनका विवरण उपलब्ध होता है।<sup>१</sup> आश्चर्यजनक यह है कि जहाँ ज्ञाताधर्मकथा में पुरुष की ७२ कलाओं का वर्णन है, वहीं नारी की चौंसठ कला का निर्देशमात्र है। फिर भी इतना निश्चित है कि भारतीय समाज में यह अवधारणा बन चुकी थी। ज्ञाताधर्मकथा में देवदत्ता गणिका को चौंसठ कलाओं में पण्डित, चौंसठ गणिका गुण ( काम-कला ) से उपपेत, उनतीस प्रकार से रमण करने में प्रवीण, इक्कीस रतिगुणों में प्रधान, बत्तीस पुरुषोपचार में कुशल, नवांगसूत्र प्रतिबोधित और अठारह केशी भाषाओं में विशारद कहा है।<sup>२</sup> इन सूचियों को देखकर स्पष्ट रूप से ऐसा लगता है कि स्त्रियों को उनकी प्रकृति और दायित्व के अनुसार भाषा, गणित, लेखनकला आदि के साथ-साथ स्त्रियोचित नृत्य, संगीत और ललितकलाओं तथा पाक-शास्त्र आदि में शिक्षित किया जाता था।

यद्यपि आगम और आगमिक व्याख्याएँ इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं हैं कि ये शिक्षा उन्हें घर पर ही दी जाती थी अथवा वे गुरुकुल में जाकर इनका अध्ययन करती थीं। स्त्री-गुरुकुल के सन्दर्भ के अभाव से ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी शिक्षा की व्यवस्था घर पर ही की जाती थी। सम्भवतः परिवार की प्रौढ़ महिलाएँ ही उनकी शिक्षा की व्यवस्था करती थीं, किन्तु सम्पन्न परिवारों में इस हेतु विभिन्न देशों की दासियों एवं गणिकाओं की भी नियुक्ति की जाती थी, जो इन्हें इन कलाओं में पारंगत बनाती थीं। आगमिक व्याख्याओं में हमें कोई भी ऐसा सन्दर्भ उपलब्ध नहीं हुआ, जो सहशिक्षा का निर्देश करता हो। नारी के गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी इन शिक्षाओं के प्राप्त करने के अधिकार में प्रागैतिहासिक काल से लेकर आगमिक व्याख्याओं के काल तक कोई विशेष परिवर्तन हुआ हो, ऐसा भी हमें ज्ञात नहीं होता; मात्र विषयवस्तु में क्रमिक विकास हुआ होगा। यद्यपि लौकिक शिक्षा में स्त्री और पुरुष की प्रकृति एवं कार्य के आधार पर अन्तर किया गया था, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि स्त्री और पुरुष में कोई भेद-भाव किया जाता था।

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति-शान्तिसूरीय वृत्ति, अधिकार २, ३०।

२. ज्ञाताधर्मकथा ४/६।

नारी को उसके लिए आवश्यक सभी पक्षों की सम्पूर्ण शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि यह सत्य है कि उस युग में स्त्री और पुरुष दोनों के लिए कर्म-प्रधान शिक्षा का ही विशेष प्रचलन था।

जहाँ तक धार्मिक-आध्यात्मिक शिक्षा का प्रश्न है वह उन्हें भिक्षु-णियों के द्वारा प्रदान की जाती थी। सूत्रकृतांग से ज्ञात होता है कि जैन-परम्परा में भिक्षु को स्त्रियों को शिक्षा देने का अधिकार नहीं था।<sup>१</sup> वह केवल स्त्रियों और पुरुषों की संयुक्त सभा में उपदेश दे सकता था। सामान्यतया भिक्षुणियों और गृहस्थ उपासिकाओं दोनों को ही स्थविरा भिक्षुणियों के द्वारा ही शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं में हमें कुछ सूचनायें उपलब्ध होती हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य और उपाध्याय भी कभी-कभी उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। व्यवहारसूत्र में उल्लेख है कि तीन वर्ष की पर्याय वाला निर्ग्रन्थ, तीस वर्ष की पर्याय वाली भिक्षुणी का उपाध्याय तथा पाँच वर्ष की पर्याय वाला निर्ग्रन्थ साठ वर्ष की पर्याय वाली श्रमणी का आचार्य हो सकता था।<sup>२</sup> जहाँ तक स्त्रियों के द्वारा धर्मग्रन्थों के अध्ययन का प्रश्न है अति प्राचीनकाल में इस प्रकार का कोई बन्धन रहा हो, हमें ज्ञात नहीं होता। अन्तकृद्वाशा आदि आगम ग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जहाँ भिक्षुणियों के द्वारा सामायिक आदि ११ अंगों का अध्ययन किया जाता था। यद्यपि आगमों में न कहीं ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख है कि स्त्री दृष्टिवाद का अध्ययन नहीं कर सकती थी और न ही ऐसा कोई विधायक सन्दर्भ उपलब्ध होता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि स्त्री दृष्टिवाद का अध्ययन करती थी। किन्तु आगमिक व्याख्याओं में स्पष्ट रूप से दृष्टिवाद का अध्ययन स्त्रियों के लिए निषिद्ध मान लिया गया। भिक्षुणियों के लिए दृष्टिवाद का निषेध करते हुए कहा गया कि स्वभाव की चंचलता, एवं बुद्धि-प्रकर्ष में कमी के कारण उसके लिए दृष्टिवाद का अध्ययन निषिद्ध बताया गया है। जब एक

१. तम्हा उ वज्जए इत्थी.....आघाते ण सेवि णिग्गंथे ।

—सूत्रकृतांग १, ४, १, ११

२. कप्पइ निग्गंथीणं विइकिट्ठए काले सज्झायं करेत्तए निग्गंथ निस्साए ।

( तथा ) पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे, सट्ठिवास परियाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ आयरिय उवज्झायत्ताए उद्दिदसित्ताए ।

—व्यवहारसूत्र ७, १५ व २०

ओर यह मान लिया गया कि स्त्री को सर्वोच्च केवलज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, तो यह कहना गलत होगा कि उनमें बुद्धि प्रकर्ष की कमी है। मुझे ऐसा लगता है कि जब हिन्दू परम्परा में उसी नारी को, जो वैदिक ऋचाओं की निर्मात्री थी, वेदों के अध्ययन से वंचित कर दिया गया तो उसी के प्रभाव में आकर उस नारी को जो तीर्थंकर के रूप में अंग और मूल साहित्य का मूलस्रोत थी, दृष्टिवाद के अध्ययन से वंचित कर दिया गया। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि दृष्टिवाद का मुख्य विषय मूलतः दार्शनिक और तार्किक था और ऐसे जटिल विषय के अध्ययन को उनके लिए उपयुक्त न समझकर उनका अध्ययन निषिद्ध कर दिया गया हो। बृहत्कल्पभाष्य और व्यवहारभाष्य की पीठिका में उनके लिए महापरिज्ञा, अरुणोपपात और दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध किया गया है। किन्तु आगे चलकर निशीथ आदि अपराध और प्रायश्चित्त सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन से भी उसे वंचित कर दिया गया। यद्यपि निशीथ आदि के अध्ययन के निषेध करने का मूल कारण यह था कि अपराधों की जानकारी से या तो वह अपराधों की ओर प्रवृत्त हो सकती थी या दण्ड देने का अधिकार पुरुष अपने पास सुरक्षित रखना चाहता था। किन्तु निषेध का यह क्रम आगे बढ़ता ही गया। बारहवीं-तेरहवीं शती के पश्चात् एक युग ऐसा भी आया जब उससे आगमों के अध्ययन का मात्र अधिकार ही नहीं छीना गया, अपितु उपदेश देने का अधिकार भी समाप्त कर दिया गया। आज भी श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक परम्परा के तपागच्छ में भिक्षुणियों को इस अधिकार से वंचित ही रखा गया है। यद्यपि पुनर्जागृति के प्रभाव से आज अधिकांश जैन सम्प्रदायों में साध्वियाँ आगमों के अध्ययन और प्रवचन का कार्य कर रही हैं।

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन काल और आगम युग की अपेक्षा आगमिक व्याख्या युग में किसी सीमा तक नारी के शिक्षा के अधिकार को सीमित किया गया था। तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि नारी-शिक्षा के प्रश्न पर वैदिक और जैन परम्परा में किस प्रकार समानान्तर परिवर्तन होता गया। आगमिक व्याख्या साहित्य के युग में न केवल शिक्षा के क्षेत्र में अपितु धर्मसंघ में और सामाजिक जीवन में भी स्त्री की गरिमा और अधिकार सीमित होते गये। इसका मुख्य कारण तो अपनी सहगामी हिन्दू परम्परा का प्रभाव ही था, किन्तु इसके साथ ही अचेलता के अति आग्रह ने भी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा अपेक्षाकृत उदार रही,

किन्तु समय के प्रभाव से वह भी नहीं बच सकी और उसमें भी शिक्षा, समाज और धर्मसाधना के क्षेत्र में आगम युग की अपेक्षा आगमिक व्याख्या युग में नारी के अधिकार सीमित किये गये ।

इस प्रकार काल-क्रम में जैन धर्म में भी भारतीय हिन्दू समाज के प्रभाव के कारण नारी को उसके अधिकारों से वंचित किया गया था, फिर भी भिक्षुणी के रूप में उसकी गरिमा को किसी सीमा तक सुरक्षित रखा गया था ।

### भिक्षुणी-संघ और नारी की गरिमा<sup>१</sup>

जैन भिक्षुणी संघ में नारी की गरिमा को किस प्रकार सुरक्षित रखा गया इस सम्बन्ध में यहाँ किंचित् चर्चा कर लेना उपयोगी होगा । जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं जैनधर्म के भिक्षुणी संघ के द्वार बिना किसी भेदभाव के सभी जाति, वर्ण एवं वर्ग की स्त्रियों के लिए खुले हुए थे । जैन भिक्षुणी संघ में प्रवेश के लिए सामान्य रूप से वे ही स्त्रियाँ अयोग्य मानी जाती थीं, जो बालिका अथवा अतिवृद्ध हों अथवा मूर्ख या पागल हों या किसी संक्रामक और असाध्य रोग से पीड़ित हों अथवा जो इन्द्रियों या अंग से हीन हों, जैसे अंधी, पंगु, लूली आदि । किन्तु स्त्रियों के लिए भिक्षुणी संघ में प्रवेश उस अवस्था में भी वर्जित था—जब वे गर्भिणी हों अथवा उनकी गोद में अति अल्पवय का दूध पीता हुआ शिशु हो । इसके अतिरिक्त संरक्षक अर्थात् माता-पिता, पति, पुत्र की अनुज्ञा न मिलने पर भी उन्हें संघ में प्रवेश नहीं दिया जाता था । किन्तु सुरक्षा प्रदान करने के लिए विशेष परिस्थितियों में ऐसी स्त्रियों को भी संघ में प्रवेश की अनुमति दे दी जाती थी । निरवायलिकासूत्र के अनुसार सुभद्रा ने अपने पति की आज्ञा के विरुद्ध ही भिक्षुणी संघ में प्रवेश कर लिया था । यद्यपि स्थानांग के अनुसार गर्भिणी स्त्री का भिक्षुणी संघ में प्रवेश वर्जित था, किन्तु उत्तराध्ययननिर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णमिं ऐसे संकेत भी मिलते हैं, जिनके अनुसार कुछ स्त्रियों ने गर्भवती होने पर भी भिक्षुणी संघ में दीक्षा ग्रहण कर ली थी । मदनरेखा अपने पति की हत्या कर दिये जाने पर जंगल में भाग गयी और वहीं उसने भिक्षुणी संघ में प्रवेश ले लिया । इसी प्रकार पद्मावती और यशभद्रा ने गर्भवती होते हुए भी भिक्षुणी संघ में प्रवेश ले लिया था और बाद में उन्हें पुत्र प्रसव हुए ।

१. इस समस्त चर्चा के लिए देखें मेरे निर्देशन में रचित और मेरे द्वारा सम्पादित ग्रन्थ—जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ—डॉ० अरुण प्रताप सिंह ।



वस्तुतः इन अपवाद नियमों के पीछे जैन आचार्यों का मूलदृष्टि यह थी कि नारी और गर्भस्थ शिशु का जीवन सुरक्षित रहे, क्योंकि ऐसी स्थितियों में यदि उन्हें संघ में प्रवेश नहीं दिया जाता है, तो हो सकता था कि उनका शील और जीवन खतरे में पड़ जाय और किसी स्त्री के शील और जीवन को सुरक्षित रखना संघ का सर्वोपरि कर्तव्य था। अतः हम कह सकते हैं कि नारी के शील एवं जीवन की सुरक्षा और उसके आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्य रखने हेतु पति की अनुमति के बिना अथवा गर्भवती होने की स्थिति में भी उन्हें जो भिक्षुणी संघ में प्रवेश दे दिया जाता था— यह नारी के प्रति जैन संघ की उद्धार एवं गरिमापूर्ण दृष्टि ही थी।

सामान्यतया साधना की दृष्टि से भिक्षु-भिक्षुणियों के आहार, भिक्षा-चर्या, उपासना आदि से सम्बन्धित नियम समान ही थे, किन्तु स्त्रियों की प्रकृति और सामाजिक स्थिति को देखकर भिक्षुणियों के लिए वस्त्र के सम्बन्ध में कुछ विशेष नियम बनाये गये। उदाहरण के लिए जहाँ भिक्षु सम्पूर्ण वस्त्रों का त्याग कर रह सकता था वहाँ भिक्षुणी के लिए नग्न होना वर्जित मान लिया गया था। मात्र यही नहीं उसकी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उसके वस्त्र संख्या में भी वृद्धि की गयी थी। जहाँ भिक्षु के लिए अधिकतम तीन वस्त्रों का विधान था वहाँ भिक्षुणी के लिए चार वस्त्रों को रखने का विधान था। आगे चलकर आगमिक व्याख्यासाहित्य में न केवल उसके तन ढँकने की व्यवस्था की गयी, बल्कि शील सुरक्षा के लिए उसे ऐसे वस्त्रों को पहनने का निर्देश दिया गया, जिससे उनका शील भंग करने वाले व्यक्ति को सहज ही अवसर उपलब्ध न हो। इसी प्रकार शील सुरक्षा की दृष्टि से भिक्षुणी को अकेले भिक्षार्थ जाना वर्जित कर दिया गया था। भिक्षुणी तीन या उससे अधिक संख्या में भिक्षा के लिए जा सकती थी। साथ में यह भी निर्देश था कि युवा भिक्षुणी वृद्ध भिक्षुणी को साथ लेकर जाए। जहाँ भिक्षु ६ किलोमीटर तक भिक्षा के लिए जा सकता था, वहीं भिक्षुणी के लिए सामान्य परिस्थितियों में भिक्षा के लिए अति दूर जाना निषिद्ध था। इसी प्रकार भिक्षुणियों के लिए सामान्यतया द्वार-रहित उपाश्रयों में ठहरना भी वर्जित था। इन सबके पीछे मुख्य उद्देश्य नारी के शील की सुरक्षा थी। क्योंकि शील ही नारी के सम्मान का आधार था। अतः उसकी शील सुरक्षा हेतु विविध नियमों और अपवादों का सृजन किया गया है।

नारी की शील-सुरक्षा के लिए जैन आचार्यों ने एक ओर ऐसे नियमों

का सृजन किया जिनके द्वारा भिक्षुणियों का पुरुषों और भिक्षुओं से सम्पर्क सीमित किया जा सके, ताकि चारित्रिक स्वलन की सम्भावनाएं अल्पतम हों। फलस्वरूप न केवल भिक्षुणियों का भिक्षुओं के साथ ठहरना और विहार करना निषिद्ध माना गया, अपितु ऐसे स्थलों पर भी निवास वर्जित माना गया, जहाँ समीप में ही भिक्षु अथवा गृहस्थ निवास कर रहे हों। भिक्षुओं से बातचीत करना और उनके द्वारा लाकर दिये जाने वाले वस्त्र, पात्र एवं भिक्षादि को ग्रहण करना भी उनके लिए निषिद्ध ठहराया गया। आपस में एक दूसरे का स्पर्श तो वर्जित था ही, उन्हें आपस में अकेले में बातचीत करने का भी निषेध किया गया था। यदि भिक्षुओं से वार्तालाप आवश्यक भी हो, तो भी अग्र-भिक्षुणी को आगे करके संक्षिप्त वार्तालाप की अनुमति प्रदान की गयी थी। वस्तुतः ये सभी नियम इसलिए बनाये गये थे, कि कामवासना जागृत होने एवं चारित्रिक स्वलन के अवसर उपलब्ध न हों अथवा भिक्षुओं एवं गृहस्थों के आकर्षण एवं वासना की शिकार बनकर भिक्षुणी की शील की सुरक्षा खतरे में न पड़े।

किन्तु दूसरी ओर उनकी शील सुरक्षा के लिए आपवादेक स्थितियों में उनका भिक्षुओं के सान्निध्य में रहना एवं यात्रा करना विहित भी मान लिया गया था। यहाँ तक कहा गया कि आचार्य, युवा भिक्षु और वृद्ध भिक्षुणियाँ तरुण भिक्षुणियों को अपने संरक्षण में लेकर यात्रा करें। ऐसी यात्राओं में पूरी व्यूह रचना करके यात्रा की जाती थी—सबसे आगे आचार्य एवं वृद्ध भिक्षुगण, उनके पश्चात् युवा भिक्षु, फिर वृद्ध भिक्षुणियाँ, उनके पश्चात् युवा भिक्षुणियाँ पुनः उनके पश्चात् वृद्ध भिक्षुणियाँ और अन्त में युवा भिक्षु होते थे। निशीथचूर्णि आदि में ऐसे भी उल्लेख हैं कि भिक्षुणियों की शील सुरक्षा के लिए आवश्यक होने पर भिक्षु उन मनुष्यों की भी हिंसा कर सकता था जो उसके शील को भंग करने का प्रयास करते थे। यहाँ तक कि ऐसे अपराध प्रायश्चित्त योग्य भी नहीं माने गये थे। भिक्षुणियों को कुछ अन्य परिस्थितियों में भी इसी दृष्टि से भिक्षुओं के सान्निध्य में निवास करने की भी अनुमति दे दी गयी थी, जैसे—भिक्षु-भिक्षुणी यात्रा करते हुए किसी निर्जन गहन वन में पहुँच गये हों अथवा भिक्षुणियों को नगर में अथवा देवालय में ठहरने के लिए अन्यत्र कोई स्थान उपलब्ध न हो रहा हो अथवा उन पर बलात्कार एवं उनके वस्त्र-यात्रादि के अपहरण की सम्भावना प्रतीत होती हो। इसी प्रकार विक्षिप्त चित्त अथवा अतिरोगी भिक्षु की परिचर्या के लिए यदि कोई भिक्षु उपलब्ध न हो तो भिक्षुणी

उसकी परिचर्या कर सकती थी। भिक्षुओं के लिए भी सामान्यतया भिक्षुणी का स्पर्श वर्जित था किन्तु भिक्षुणी को कीचड़ में फँस जाने पर, नाव में चढ़ने या उतरने में कठिनाई अनुभव करने पर अथवा जब उसकी हिंसा अथवा शीलभंग के प्रयत्न किये जा रहे हों तो ऐसी स्थिति में भिक्षु भिक्षुणी का स्पर्श कर उसे सुरक्षा प्रदान कर सकता था। जैन परम्परा में आचार्य कालक की कथा इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। भिक्षुणी के शील की सुरक्षा को जैन भिक्षु संघ का अनिवार्य एवं प्राथमिक कर्तव्य माना गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में नारी के शील सुरक्षा के लिए पर्याप्त सतर्कता रखी गई थी।

मात्र यही नहीं, जैनाचार्यों ने अपनी दण्ड-व्यवस्था और संघ व्यवस्था में भी नारी की प्रकृति को सम्यक् रूप से समझने का प्रयत्न किया है। पुरुषों के बलात्कार और अत्याचारों से पीड़ित नारी को उन्होंने दुत्कारा नहीं, अपितु उसके समुद्धार का प्रयत्न किया। जैन दण्डव्यवस्था में उन भिक्षुणियों के लिये किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था नहीं की गई थी, जो बलात्कार की शिकार होकर गर्भवती हो जाती थी, अपितु उनके और उनके गर्भस्थ बालक के संरक्षण का दायित्व संघ का माना गया था। प्रसवोपरान्त बालक के बड़ा हो जाने पर वे पुनः भिक्षुणी हो सकती थीं। इसी प्रकार वे भिक्षुणियाँ भी जो कभी वासना के आवेग में बहकर चारित्रिक स्वलन की शिकार हो जाती थीं, तिरस्कृत नहीं कर दी जाती, अपितु उन्हें अपने को सुधारने का अवसर प्रदान किया जाता था। इस तथ्य के समर्थन में यह कहा गया था कि क्या बाढ़ से ग्रस्त नदी पुनः अपने मूल मार्ग पर नहीं आ जाती है? जैन प्रायश्चित्त व्यवस्था में भी स्त्रियों या भिक्षुणियों के लिए परिहार और पाराञ्चिक (निष्कासन) जैसे कठोर दण्ड वर्जित मान लिये गये थे, क्योंकि इन दण्डों के परिणाम स्वरूप वे निराश्रित होकर वेश्यावृत्ति जैसे अनैतिक कर्मों के लिये बाध्य हो सकती थीं। इस प्रकार जैनाचार्य नारी के प्रति सदैव सजग और उदार रहे हैं।

हम यह पूर्व में ही सूचित कर चुके हैं कि जैनधर्म का भिक्षुणी संघ उन अनाथ, परित्यक्ता एवं विधवा नारियों के लिए सम्मानपूर्वक जीने के लिए एक मार्ग प्रशस्त करता था और यही कारण है कि प्राचीन काल से लेकर आज तक जैनधर्म अभागी नारियों के लिए आश्रय स्थल या शरणस्थल बना रहा है। सुश्री होराब्रह्म बोरदिया ने अपने शोध कार्य के दौरान अनेक

साध्वियों का साक्षात्कार लिया और उसमें वे इसी निष्कर्ष पर पहुँची थीं कि वर्तमान में भी अनेक अनाथ, विधवा, परित्यक्ता स्त्रियाँ अथवा वे कन्यायें जो दहेज अथवा कुरूपता के कारण विवाह न कर सकीं, वे सभी जैन भिक्षुणी संघ में सम्मिलित होकर एक सम्मानपूर्ण स्वावलम्बन का जीवन जी रही हैं। जैन भिक्षुणियों में से अनेक तो आज भी समाज में इतनी सुस्थापित हैं कि उनकी तुलना में मुनि वर्ग का प्रभाव भी कुछ नहीं लगता है।

इस आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि जैनधर्म के विकास और प्रसार में नारी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आज भी जैन समाज में भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों की संख्या तीन गुनी से भी अधिक है जो समाज पर उनके व्यापक प्रभाव को द्योतित करती है। वर्तमान युग में भी अनेक ऐसी जैन साधवियाँ हुई हैं और हैं जिनका समाज पर अत्यधिक प्रभाव रहा है। जैसे स्थानकवासी परम्परा में पंजाबसिंहनी साध्वी पार्वतीजी, जो अपनी विद्वत्ता और प्रभावशीलता के लिये सुविश्रुत थीं। जैनधर्म के कट्टर विरोधी भी उनके तर्कों और बुलंदगी के सामने सहम जाते थे। इसी प्रकार साध्वी यशकुँवरजी, जिन्होंने मूक पशुओं की बलि को बन्द कराने में अनेक संघर्ष किये और अपने शौर्य एवं प्रवचनपटुता से अनेक स्थलों पर पशुबलि को समाप्त करवा दिया। उसी क्रम में स्थानकवासी परम्परा में मालव सिंहनी साध्वी श्री रत्नकुँवरजी और महाराष्ट्र गौरव साध्वी श्री उज्ज्वलकुँवरजी के भी नाम लिये जा सकते हैं जिनका समाज पर प्रभाव किसी आचार्य से कम नहीं था। मूर्तिपूजक परम्परा में वर्तमान युग में साध्वी श्री विचक्षण श्री जी, मणिप्रभा श्री जी और साध्वी श्री मृगावतीजी भी ऐसे नाम हैं कि जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही उनकी यशोगाथा को उजागर करते हैं। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में आर्यिका ज्ञानमती जी का भी पर्याप्त प्रभाव है। उनके द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों की सूची से उनकी विद्वत्ता का अभास हो जाता है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि जैनधर्म में उसके अतीत से लेकर वर्तमान तक नारी की और विशेष रूप से भिक्षुणियों की एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जहाँ एक ओर जैनधर्म ने नारी को सम्मानित और गौरवान्वित करते हुए, उसके शील संरक्षण का प्रयास किया और उसके आध्यात्मिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया; वहीं दूसरी ओर ब्राह्मो, सुन्दरी और चन्दना से लेकर आज तक की अनेकानेक सती-साध्वियों ने अपने चरित्रबल तथा संयम साधना से जैनधर्म की ध्वजा को फहराया है।

## विभिन्न धर्मों में नारी की स्थिति को तुलना

( १ ) **हिन्दू धर्म और जैनधर्म**—हिन्दू धर्म में वैदिक युग में नारी की भूमिका धार्मिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी और उसे पुरुष के समकक्ष ही समझा जाता था। स्त्रियों के द्वारा रचित अनेक वेद-ऋचाएं और यज्ञ आदि धार्मिक कर्मकाण्डों में पत्नी की अनिवार्यता, निश्चय ही इस तथ्य की पोषक हैं। मनु का यह उद्घोष कि नार्यस्तु यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता—अर्थात् जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता रमण करते हैं, इसी तथ्य को सूचित करता है कि हिन्दूधर्म में प्राचीनकाल से नारी के महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, इन सबके अतिरिक्त भी देवी-उपासना के रूप में सरस्वती, लक्ष्मी, महाकाली आदि देवियों की उपासना भी इस तथ्य की सूचक है कि नारी न केवल उपासक है अपितु उपास्य भी है। यद्यपि वैदिक युग से लेकर तंत्र युग के प्रारम्भ तक नारी की महत्ता के अनेक प्रमाण हमें हिन्दूधर्म में मिलते हैं किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी है कि स्मृति युग से ही उसमें क्रमशः नारी के महत्त्व का अवमूल्यन होता गया। स्मृतियों में नारी को पुरुष के अधीन बनाने का उपक्रम प्रारम्भ हो गया था और उनमें यहाँ तक कहा गया कि नारी को बाल्यकाल में पिता के अधीन, युवावस्था में पति के अधीन और वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रह कर ही अपना जीवन जीना होता है। इस प्रकार वह सदैव ही पुरुष के अधीन ही है, कभी भी स्वतन्त्र नहीं है। स्मृति काल में उसे सम्पत्ति के अधिकार से भी वंचित किया गया और सामाजिक जीवन में मात्र उसके दासी या भोग्या स्वरूप पर ही बल दिया गया। पति की सेवा को ही उसका एकमात्र कर्तव्य माना गया।

यह विडम्बना ही थी कि अध्ययन के क्षेत्र में भी वेद-ऋचाओं की निर्मात्री नारी को, उन्हीं ऋचाओं के अध्ययन से वंचित कर दिया गया। उसके कार्यक्षेत्र को सन्तान-उत्पादन, सन्तान-पालन, गृहकार्य सम्पादन तथा पति की सेवा तक सीमित करके उसे घर की चारदिवारी में कैद कर दिया गया। हिन्दू धर्म में नारी की यह दुर्दशा मुस्लिम आक्रान्ताओं के आगमन के साथ क्रमशः बढ़ती ही गयी। रामचरितमानस के रचयिता युग-कवि तुलसीदास को भी कहना पड़ा कि 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'। हिन्दू धर्म का मध्ययुग का इतिहास इस बात का साक्षी है कि बहुपत्नीप्रथा और सतीप्रथा जैसी क्रूर और नृशंस प्रथाओं ने जन्म लेकर उसमें नारी के महत्त्व और मूल्य को प्रायः समाप्त ही

कर दिया था। वर्तमान समाज व्यवस्था में भी हिन्दू धर्म में नारी को पुरुष के समकक्ष गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है यह कहना कठिन है, यद्यपि नारी चेतना का पुनः जागरण हुआ है किन्तु यह भी भय है कि पश्चिम के अन्धानुकरण में वह कहीं गलत दिशा में मोड़ न ले ले।

हिन्दूधर्म में यद्यपि संन्यास की अवधारणा को स्थान मिला हुआ है और प्राचीनकाल से ही हिन्दू संन्यासिनियों के भी उल्लेख मिलने लगते हैं, फिर भी संन्यासिनियों के आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में हिन्दूधर्मग्रन्थ प्रायः मौन ही हैं। हिन्दूधर्म में प्राचीनकाल से लेकर आज तक यत्र-तत्र किन्हीं संन्यासिनियों की उपस्थिति के उल्लेख को छोड़कर संन्यासिनियों का एक सुव्यवस्थित वर्ग बना हो ऐसा नहीं देखा जाता है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म में विधवाओं, परित्यक्ताओं और अविवाहित स्त्रियों के लिए सम्मान-पूर्ण जीवन जीने के लिए कोई आश्रयस्थल नहीं बन सका और वे सदैव ही पुरुष के अत्याचारों और प्रताड़नाओं का शिकार बनीं। चाहे सिद्धान्तरूप में स्त्रियों के संदर्भ में हिन्दू धर्म में कुछ आदर्शवादी उद्घोष हमें मिल जाएँ, किन्तु व्यावहारिक जीवन में हिन्दू धर्म में स्त्रियाँ उपेक्षा का ही विषय बनी रहीं।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि हिन्दू धर्म की अपेक्षा जैन धर्म में नारी की स्थिति और भूमिका दोनों ही अधिक महत्त्वपूर्ण रही। यों तो जैनधर्म हिन्दूधर्म के सहवर्ती धर्म के रूप में ही विकसित हुआ है और इसीलिए प्रत्येक काल में वह हिन्दूधर्म से प्रभावित रहा है। हिन्दूधर्म के नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण और उसके दुष्परिणामों का शिकार वह भी बना है। जिस प्रकार हिन्दूधर्म में वेद-ऋचाओं की निर्माता स्त्री को उनके अध्ययन से वंचित कर दिया गया, उसी प्रकार जैन धर्म में भी स्त्री के लिए न केवल दृष्टिवाद के अध्ययन को अपितु आगमों के अध्ययन को भी वर्जित मान लिया गया, यद्यपि प्राचीन आगम साहित्य में स्त्रियों के अंग आगम के अध्ययन के उल्लेख एवं निर्देश उपलब्ध हैं। यह सत्य है कि इस सम्बन्ध में जैनधर्म ने हिन्दूधर्म का अनुसरण ही किया। बृहत्तर हिन्दू समाज का एक अंग बने रहने के कारण जैनों के सामाजिक जीवन में स्त्रियों की स्थिति हिन्दूधर्म के समान ही रही है, फिर भी जैनधर्म की सामाजिक व्यवस्था में हिन्दूधर्म की भाँति बहुपत्नीप्रथा इतनी अधिक हावी नहीं हुई कि पुरुष की दृष्टि में स्त्री मात्र भोग्या बनकर रह गयी हो। इसके पीछे जैनधर्म का संन्यासमार्गीय दृष्टिकोण ही प्रमुख रहा है। दूसरे जैनधर्म में प्रारम्भ से लेकर आज तक भिक्षुणीसंघ की, जो एक सुदृढ़

व्यवस्था रही है, उसके कारण उसमें नारी विशेषरूप से विधवा, परित्यक्ता और कुमारियाँ पुरुष के अत्याचार और उत्पीड़न का शिकार नहीं बनीं। जैनधर्म का भिक्षुणी संघ ऐसी नारियों के लिए एक शरण-स्थल रहा और उसने उन्हें सम्मानपूर्ण और स्वावलम्बी जीवन जीना सीखाया। यही कारण था कि उसमें सतीप्रथा जैसी वीभत्स प्रथाएँ भी अपने जड़े नहीं जमा सकीं। जैनधर्म में वे स्त्रियाँ, जो सामाजिक क्षेत्र में पुरुष के अधीन होकर जीवन जीती थीं, भिक्षुणी बनकर पुरुषों के लिए वन्दनीय और मार्गदर्शक बन जाती थीं। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से निश्चय ही हम यह कह सकते हैं कि हिन्दूधर्म की तुलना में जैनधर्म में नारी की स्थिति बहुत कुछ सम्मानपूर्ण रही है।

( २ ) **बौद्धधर्म और जैनधर्म**—बौद्धधर्म और जैनधर्म दोनों ही श्रमण परम्परा के धर्म रहे हैं और दोनों में भिक्षुणी संस्था की उपस्थिति रही है, फिर भी नारी के प्रति जैनधर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म का दृष्टिकोण अधिक अनुदार रहा है। प्रथम तो भगवान् बुद्ध भिक्षुणी संघ की स्थापना के लिए सहमत ही नहीं हुए थे किन्तु जब अपनी क्षीरदायिका मौसी गौतमी और अन्तेवासी आनन्द ने किसी प्रकार अपने प्रभाव का उपयोग करके बुद्ध को सहमत करने का प्रयत्न किया तो बुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना की स्वीकृति कुछ शर्तों के साथ प्रदान की। जबकि जैनधर्म में महावीर के पूर्व में भी पार्श्व का भिक्षुणी संघ सुव्यवस्थित ढंग से कार्यरत था और महावीर को भी इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ था। इस प्रकार जैनधर्म का भिक्षुणी संघ बौद्धधर्म के भिक्षुणी संघ से पूर्ववर्ती था। पुनः बुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना के समय ही जिन अष्ट-गुरुधर्मों ( अष्ट पुरुष की श्रेष्ठता सम्बन्धी नियमों ) के पालन के लिए स्त्रियों को बाध्य किया, वे स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि बुद्ध की दृष्टि नारियों के प्रति अपेक्षाकृत अनुदार थी। इन अष्ट गुरुधर्मों के अनुसार भिक्षुणी संघ प्रत्येक क्षेत्र में भिक्षु संघ के अधीन था। चिर प्रव्रजिता और वयोवृद्ध भिक्षुणी के लिए सद्यः प्रव्रजित भिक्षु न केवल वन्दनीय था अपितु वह उनका अनुशास्ता भी हो सकता था। भिक्षुणी को उपदेश देने का अधिकार भी नहीं था। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि बौद्धधर्म के समान ही जैनधर्म में भी तो चिरकाल की दीक्षित एवं वयोवृद्ध भिक्षुणी के लिए सद्यः दीक्षित भिक्षु वन्दनीय होता है, किन्तु मेरी दृष्टि में जैनधर्म में यह नियम बौद्धधर्म के प्रभाव अथवा इस देश की पुरुष प्रधान संस्कृति के कारण कालांतर में ही आया होगा। प्राचीनतम आगम आचारांग भिक्षु-भिक्षुणी के नियमों

एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों के निर्देश तो करता है, किन्तु कहीं यह उल्लेख नहीं करता है कि चिरप्रव्रजित भिक्षुणी संघः दीक्षित भिक्षु को वंदन करे। परवर्ती आगम में भी मात्र ज्येष्ठ-कल्प का उल्लेख है।

ज्येष्ठ-कल्प का तात्पर्य है कि कनिष्ठ अपने से प्रव्रज्या में ज्येष्ठ को वंदन करे। यह टीकाकारों की अपनी कल्पना है कि उन्होंने ज्येष्ठ कल्प को पुरुष-ज्येष्ठ-कल्प के रूप में व्याख्यायित किया। मूल-आगमों में ऐसी कोई भी व्यवस्था उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर जैनधर्म में स्त्री को पुरुष की अपेक्षा निम्न माना गया हो। आगमों में स्त्री को न केवल मोक्ष की अधिकारी बताया गया, अपितु उसे तीर्थंकर जैसे सर्वोच्च पद की भी अधिकारी घोषित किया गया है। ज्ञाताधर्मकथा में मल्ली का स्त्री तीर्थंकर के रूप में उल्लेख है। अतः हम स्पष्ट रूप से यह कह सकते हैं कि बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म का दृष्टिकोण नारी के प्रति अधिक उदार था। बौद्धधर्म में नारी कभी भी बुद्ध नहीं बन सकती है, किन्तु जैनधर्म में चाहे अपवाद रूप में ही क्यों न हो, स्त्री तीर्थंकर हो सकती है। यद्यपि परवर्ती काल में जैनधर्म की दिगम्बर शाखा में, जो नारी को तीर्थंकरत्व एवं निर्वाण के अधिकार से वंचित किया गया था, वह उसके अचेतता पर अधिक बल देने के कारण हुआ था। चूँकि सामाजिक स्थिति के कारण नारी नग्न नहीं रह सकती थी अतः दिगम्बर परम्परा ने उसे निर्वाण और तीर्थंकरत्व के अयोग्य ही ठहरा दिया। किन्तु यह एक परवर्ती ही घटना है। ईसा की सातवीं शती के पूर्व जैन साहित्य में ऐसे उल्लेख नहीं मिलते हैं।

यद्यपि बौद्धधर्म में भिक्षुणी संघ अस्तित्व में आया और संघमित्रा जैसी भिक्षुणीओं ने बौद्धधर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण अवदान भी दिया किन्तु बौद्धधर्म का यह भिक्षुणी संघ चिरकाल तक अस्तित्व में नहीं रह सका। चाहे उसके कारण कुछ भी रहे हों। आज बौद्धधर्म विश्व के एक प्रमुख धर्म के रूप अपना अस्तित्व रखता है, किन्तु कुछ श्रामणेरियों को छोड़कर बौद्धधर्म में कहीं भी भिक्षुणी संघ की उपस्थिति नहीं देखी जाती है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना रही है। चाहे इसके मूल में भी बौद्धाचार्यों के मन में बुद्ध का यह भय ही काम कर रहा हो कि भिक्षुणियों की उपस्थिति से संघ चिरकाल तक जीवित नहीं रहेगा। जबकि जैनधर्म में आज भी सुसंगठित भिक्षुणी संघ उपस्थित है और भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों की संख्या तीन गुनी से अधिक है। यह बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म के नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण का परिचायक है।



(३) **ईसाईधर्म और जैनधर्म**—नारी के सम्बन्ध में ईसाईधर्म और और जैनधर्म का दृष्टिकोण बहुत कुछ समान है। तीर्थंकरों की माताओं के समान ईसाईधर्म में यीशु की माता मरियम को भी पूजनीय माना गया है। साथ ही ईसाईधर्म में जैनधर्म की भांति ही भिक्षुणी संस्था की उपस्थिति रही है। आज भी ईसाईधर्म में न केवल भिक्षुणी संस्था सुव्यवस्थित रूप में अस्तित्व रखती है अपितु ईसाई भिक्षुणियां (Nuns) अपने ज्ञानदान और सेवाकार्य से समाज में अधिक आदरणीय और महत्त्वपूर्ण बनी हुई हैं। ईसाई धर्म संघ द्वारा स्थापित शिक्षा संस्थाओं, चिकित्सालयों और सेवाश्रमों में इन भिक्षुणियों की त्याग और सेवा-भावना अनेक व्यक्तियों के मन को मोह लेती है। यदि जैन समाज उनसे कुछ शिक्षा ले तो उसका भिक्षुणी संघ समाज के लिए अधिक लोकोपयोगी बन सकता है और नारी में निहित समर्पण और सेवा की भावना का सम्यक् उपयोग किया जा सकता है।

जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है, निश्चय ही पाश्चात्य ईसाई समाज में नारी की पुरुष से समकक्षता की बात कही जाती है। यह भी सत्य है कि पाश्चात्य देशों में नारी भारतीय नारी की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है और अनेक क्षेत्रों में वह पुरुषों के समकक्ष खड़ी हुई है। किन्तु इन सबका एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि वहाँ का पारिवारिक व सामाजिक जीवन टूटता हुआ दिखाई देता है। बढ़ते हुए तलाक और स्वच्छन्द यौनाचार ऐसे तत्त्व हैं जो ईसाई नारी की गरिमा को खण्डित करते हैं। जहाँ हिन्दूधर्म और जैनधर्म में विवाह सम्बन्ध को आज भी न केवल एक पवित्र सम्बन्ध माना गया है, अपितु एक आजीवन सम्बन्ध के रूप में देखा जाता है, वहाँ ईसाई समाज में आज विवाह यौन-वासनाओं की पूर्ति का माध्यम मात्र ही रह गया है। उसके पीछे रही हुई पवित्रता एवं आजीवन बन्धन की दृष्टि समाप्त हो रही है। यदि ईसाई धर्म अपने समाज को इस दोष से मुक्त कर सके तो सम्भवतः वह नारी की गरिमा प्रदान करने की दृष्टि से विश्व धर्मों में अधिक सार्थक सिद्ध हो सकता है।

(४) **इस्लामधर्म और जैनधर्म**—जहाँ तक इस्लामधर्म और जैनधर्म का सम्बन्ध है सर्वप्रथम हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि दोनों की प्रकृति भिन्न है। इस्लामधर्म में संन्यास की अवधारणा प्रायः अनुपस्थित है और इसलिए उसमें नारी को पुरुष के समकक्ष स्थान मिल पाना सम्भव ही नहीं है। उसमें अक्सर नारी को एक भोग्या के रूप में ही देखा गया है। बहुपत्नीप्रथा का खुला समर्थन भी इस्लाम में नारी की स्थिति को हीन

बनाता है। वहाँ न केवल पुरुष को बहुविवाह का अधिकार है अपितु उसे यह भी अधिकार है कि वह चाहे जब मात्र तीन बार तलाक कहकर विवाह बन्धन को तोड़ सकता है। फलतः उसमें नारी को अत्याचार व उत्पीड़न की शिकार बनाने की सम्भावनाएँ अधिक रही हैं। यह केवल हिन्दूधर्म व जैनधर्म की ही विशेषता है कि उसमें विवाह के बन्धन को आजीवन एक पवित्र बन्धन के रूप में स्वीकार किया जाता है और यह माना जाता है कि यह बन्धन तोड़ा नहीं जा सकता है। यद्यपि इस्लाम में नारी के सम्पत्ति के अधिकार को मान्य किया गया है, किन्तु व्यवहार में कभी भी नारी पुरुष की कैद एवं उत्पीड़न से मुक्त नहीं रह सकी। उसमें स्त्री पुरुष की वासनापूर्ति का साधन मात्र ही बनी रही। भारत में पर्दाप्रथा, सतीप्रथा जैसे कुप्रथाओं के पनपने के लिए इस्लामधर्म ही अधिक जिम्मेदार रहा है।

इस तुलनात्मक विवरण के आधार पर अन्त में हम यह कह सकते हैं कि विभिन्न धर्मों की अपेक्षा जैनधर्म का दृष्टिकोण नारी के प्रति अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक एवं उदार है। यद्यपि इस सत्य को स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है कि समसामयिक परिस्थितियों और सहवर्ती परम्पराओं के प्रभाव से जैनधर्म में भी नारी के मूल्य व महत्त्व का क्रमिक अवमूल्यन हुआ है। किन्तु उसमें उपस्थित भिक्षुणी संघ ने न केवल नारी को जो गरिमा प्रदान की, अपितु उसे सामाजिक उत्पीड़न और पुरुष के अत्याचारों को बचाया भी है। यही जैनधर्म की विशेषता है।

माघ शुक्ल पूर्णिमा  
वि० संवत् २०४८

**सागरमल जैन**  
निदेशक  
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,  
वाराणसी

# क्षेत्रज्ञ शब्दके विविध प्राकृत रूपोंकी कथा और उसका अर्धमागधी रूपान्तर

—डॉ० के० आर० चन्द्र

आचारांग<sup>१</sup> के प्रथम श्रुतस्कंध में 'क्षेत्रज्ञ' शब्द के प्राकृत रूपों का १६ बार प्रयोग हुआ है [ सूत्र सं० ३२ (४) ७९ (१); ८८ (१); १०४ (१); १०९ (५); १३२ (१); १७६ (१); २०९ (१); २१० (१) ] जो विविध संस्करणों में इस प्रकार उपलब्ध हो रहे हैं :—

- अ. (१) शुब्रिग महोदय के संस्करण में मात्र खेयन्न ।  
 (२) आगमोदय समिति के संस्करण में खेयन्न ९ बार और खेयण ७ बार ।  
 (३) जैन विश्व भारती के संस्करण में खेयन्न १ बार और खेयण १५ बार ।  
 (४) महावीर जैन विद्यालय के संस्करण में खेयण २ बार, खेतण ६ बार और खेत्तण ८ बार ।

ब. पाठान्तर—

- (१) शुब्रिग महोदय के संस्करण में सिर्फ एक ही पाठान्तर है— खेत्तन्न ( चूर्णि से ३ बार और 'जी' संज्ञक प्रत से ५ बार ) ।  
 (२) आगमोदय समिति के संस्करण में कोई पाठान्तर नहीं है ।  
 (३) जैन विश्व भारती के संस्करण में दो पाठान्तर मिलते हैं— खेत्तन्न ( 'च' संज्ञक प्रत से ) और खेत्तण ( चूर्णि से ) ।  
 (४) महावीर जैन विद्यालय के संस्करण में पाठान्तरों की संख्या ५ है— १. खित्तण, २. खेदन्न, ३. खेदण, ४. खेयन्न और ५. खेअन्न ।

१. महावीर जैन विद्यालय, संस्करण, सं० मुनि जंबूविजय, ई० सन् १९७७ ।

इस संस्करण में 'खेत्तन्न' पाठान्तर का कहीं पर भी उल्लेख नहीं होना एक आश्चर्य की बात है, जबकि शुद्धिग महोदय को ताडपत्र की एक प्रत में और चूर्णि में खेत्तन्न पाठ मिला है ।

स. क्षेत्रज्ञ शब्द के लिए प्राकृत में ( ध्वनि-परिवर्तन वाले ) जो अलग-अलग शब्द अपनाये गये हैं वे इस प्रकार हैं—

(१) खेयन्न, खेयण्ण, खेतण्ण, खेत्तण्ण

इन चारों पाठों को विभिन्न संपादकों ने समान रूप से नहीं अपनाया है ।

(२) उपरोक्त संस्करणों के पाठान्तरों में जो रूप मिलते हैं वे इस प्रकार हैं—खेत्तन्न और ऊपर ब (४) में दिये गये पाँच रूप—खित्तण्ण, खेदन्न, खेदण्ण, खेयन्न और खेअन्न ।

(३) अर्थात् कुल नौ रूप मिलते हैं जो निम्न प्रकार से चार भागों में रखे जा सकते हैं :—

[ अ ] खेयन्न, खेअन्न (न्न)

[ ब ] खेतण्ण, खेयण्ण (ण्ण)

[ स ] खेत्तन्न, खेत्तण्ण, खित्तण्ण (त्त)

[ द ] खेदन्न, खेदण्ण (द)

[ एक अन्य रूप से त = द = अ = य ]

द. (१) क्षेत्रज्ञ शब्द संस्कृत साहित्य में मिलता है और उसके अर्थ<sup>१</sup> इस प्रकार दिये गये हैं—

क्षेत्र का जानकार, खेती का जानकार, निपुण, कुशल, आत्मज्ञ स्व-चैतन्यज्ञ ।

(२) पाइयसद्महण्णवो में खेयन्न और खेअण्ण का संस्कृत रूप

१. (अ) Sanskrit Dictionary by Monier Williams :—Knowing localities, familiar with the cultivation of soil, clever skilful, dexterous, cunning, knowing the body i.e. the soul, the conscious principle, etc.

(ब) क्षेत्रज्ञ = आत्मा (क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः) अमरकोष :—१।४।२९, ३।३।३३ ।

खेदज्ञ दिया गया है और उसके ये अर्थ दिये गये हैं—

चतुर, जानकार, निपुण, कुशल । अन्य प्राकृत रूप जो ऊपर दर्शाये गये हैं उनका उल्लेख इस कोष में नहीं है ।

(३) आगम शब्द-कोष (अंगमुत्ताणि, जैन विश्व भारती संस्करण) में खेत्तण्ण और खेयण्ण दोनों शब्द संस्कृत रूपान्तर क्षेत्रज्ञ के साथ दिये गये हैं ।\*

(क) इस शब्द के विषय में चूर्णिकार कहते हैं—खित्तं जाणत्ति खित्तण्णो ।<sup>२</sup> खित्तं आगासं, खित्तं जाणतीति, खित्तण्णो, तं आहारभूतं दव्वकालभावाणं अमुत्तं च पवुच्चति ।  
मुत्तामुत्ताणि खित्तं च जाणंतो पाएण दव्वादीणि जाणइ ।  
जो वा संसारियाणि दुक्खाणि जाणति सो खित्तण्णो पंडितो वा ।

(ख) जबकि आचारांग के टीकाकार अधिकतर 'खेदज्ञ' से ही अर्थ समझाते हैं—निपुण के साथ अभ्यास, श्रम आदि अर्थ भी दिये गये हैं ( आगमो. पृ० १२४ ) । कभी-कभी क्षेत्रज्ञ का अर्थ निपुणता भी समझाते हैं । शीलांकाचार्य ( सू० १३२ पर टीका ) खेदज्ञ का अर्थ इस प्रकार करते हैं—जन्तु दुःखपरिच्छेत्तृभिः । वास्तव में मूल शब्द तो 'क्षेत्रज्ञ' ही था लेकिन बाद में बदलकर 'खेदज्ञ' भी बन गया । वैसे प्राकृत शब्द 'खेदण्ण' और 'खेदन्न' कागज की प्रतों में ही अधिकतर मिलते हैं ।<sup>१</sup>

(ग) महावीर जैन विद्यालय के संस्करण में क्षेत्रज्ञ शब्द के लिए जो प्राकृत रूप (पाठ) स्वीकृत किया गया है और विभिन्न प्रतों ( ताडपत्र और कागज ) से उसके जो पाठान्तर दिये गये हैं वे इस प्रकार हैं—

\* प्रारम्भ के विभाग अ (३) में 'खेत्तण्ण' शब्द पाठान्तर में रखा गया है ।

१. महावीर जैन विद्यालय पृ० २६ टिप्पण ८; पृ० ३९, टि० १०

२. वही, पृ० २६, टि० ८; पृ० ३९ टि० १० ( हे० १, २, ३ और ला० संज्ञक प्रतियाँ ) ।

## स्वीकृत पाठ

## पाठान्तर और प्रत-परिचय

(आधारभूत प्रत एवं सूत्र सं०)

- |                                  |   |
|----------------------------------|---|
| १. खेत्तण्ण० ३२ खं, इ० चू०       | खेतण्ण० सं, हे० १, २<br>खेयन्न, खेअन्न (अन्यत्र)          |
| २. खेत्तण्ण-३२ इ० चू०            | खेयन्न, खेअन्न (अन्यत्र)                                  |
| ३. खेत्तण्ण-३२ इ० चू०            | खेतण्ण सं, खं, हे० १, २,<br>खेयन्न, खेअन्न (अन्यत्र)      |
| ४. खेत्तण्ण-३२ इ० चू०            | खेअन्न हे० <sup>३</sup> , ला० जै, खेतण्ण<br>(अन्यत्र)     |
| ५. खेत्तण्ण, ७९ शां० खं० चू०     | खेतण्ण खे, जै, खेयण्ण सं, हे० १,<br>२, ३ ला० ३, चू०       |
| ६. खेत्तण्ण १०४ (सर्वत्र)        | यहाँ पर चूर्णि में खेतण्ण पाठ (पृ०<br>१०० पंक्ति १)       |
| ७. खेत्तण्ण १७६ खं०              | खेतण्ण खे, जै, इ, खेयण्ण (अन्यत्र)                        |
| ८. खेत्तण्ण २१० खं०              | खेतण्ण खे, जै, खेयण्ण (अन्यत्र)                           |
| ९. खेतण्ण १३२ (अन्यत्र)          | खेअण्ण सं, खेदण्ण हे० १, २, ३,<br>ला० खित्तण्ण चू०        |
| १०. खेतण्ण २०९ खे, जै०           | खेयण्ण (अन्यत्र)  |
| ११. खेतण्ण १०९ (अन्यत्र)         | खेत्तण्ण खं, खेयण्ण हे० १, २, ३,<br>इ, शां०               |
| १२. खेतण्ण १०९ चू० (?)           | खेयण्ण शां, खे० जै० ला, इ० हे०<br>१, २, ३, खेदण्ण सं० खं० |
| १३. खेतण्ण १०९ (अन्यत्र)         | खेदण्ण खं०  |
| १४. खेतण्ण १०९ (अन्यत्र)         | खेयण्ण, शां, हे० २, ३, ला० इ०<br>खेत्तण्ण चू०             |
| १५. खेयण्ण ८८ (अस्पष्ट)          | खित्तण्ण चू, खेदन्न, खेयन्न<br>(प्रत्ययान्तरे)            |
| १६. खेयण्ण १०९ खेमू० चू०<br>विना | खेयन्न हे० १, २, ३, ला, जै, इ०                            |

(घ) संपादकों द्वारा किये गये पाठों की पसंदगी या चुनाव पर एक समालोचनात्मक दृष्टिपात—

( १ ) शुब्रिग महोदय की अपनी एक विशेषता रही है कि जिन पाठान्तरों को वे अपने सिद्धान्त के अनुकूल नहीं मानते हैं ऐसे पाठान्तरों का वे उल्लेख नहीं करते हैं । अतः उनके सामने कौन-कौन से और भी पाठान्तर रहे होंगे उनके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता जब तक उनके द्वारा उपयोग में लायी गयी सामग्री का पुनरावलोकन नहीं किया जाय । उन्होंने मात्र एक ही पाठान्तर 'खेत्तन्न' दिया है और उसे नहीं अपनाकर 'खेयन्न' को ही सब जगह अपनाया है । 'ज्ञ' के लिए 'न्न' को और 'त्र' के लिए 'त्त' या 'त' के बदले में 'य' को स्थान दिया है । संस्कृत रूपान्तरों के रूप में क्षेत्रज्ञ और खेदज्ञ दोनों शब्दों का उल्लेख उन्होंने टिप्पणियों में किया है ।

(च) 'क्षेत्रज्ञ' शब्द के ध्वनि सम्बन्धी अनेक प्राकृत रूपान्तरों को ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से निम्न प्रकार से समझाया जा सकता है :—

क्षेत्रज्ञ = खेतञ्ज — खेतन्न — खेतन्न — खेदन्न (खेदण्ण) — खेयन्न — खेयण्ण ।

(१) खेतञ्ज—पालि, मागधी और पैशाची ( की अवस्था ) का शब्द ( भाषा विशेष की दृष्टि से ) ।

प्रदेश की दृष्टि से पश्चिम, उत्तर-पश्चिम और दक्षिण में प्रयोग ( अशोककालीन शिलालेखों के अनुसार ) ।

(२) खेतन्न—पूर्वी प्रदेश की लाक्षणिकता ( अशोक के शिलालेखों के अनुसार ) । जैन आगमों की प्रथम वाचना का स्थल पूर्व भारत में पाटलिपुत्र ही था यह एक महत्त्व का मुद्दा है ।

(३) खेतन्न—मूल खेतन्न शब्द खेतन्न में बदल गया क्योंकि दीर्घ मात्रा के बाद संयुक्त व्यंजनों में से एक का वैकल्पिक लोप प्राकृत भाषा को मान्य है ।

(४) खेदन्न—मगधदेश ( पूर्व ) से उत्तर-पश्चिम की ओर प्रयाण ( धर्म का प्रसार ) करने पर ( मथुरा = शूरसेन प्रदेश में ) त कार का द कार हो गया और खेतन्न शब्द खेदन्न में बदल गया । जैन आगमों की द्वितीय वाचना का स्थल मथुरा था और शौरसेनी में त का द होता है ।

(५) खेयण—पुनः पश्चिमी प्रदेश ( गुजरात-सौराष्ट्र ) की ओर प्रस्थान करने पर खेदन्न शब्द का परिवर्तन खेयण में हो गया ( मध्यवर्ती अल्पप्राण का लोप, य श्रुति और तालव्य न का मूर्धन्य ण में परिवर्तन) जैन आगमों की अन्तिम वाचना का स्थल वलभी (गुजरात) था ।

इसतरह मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजन का लोप ( और य श्रुति ) तथा न का ण में परिवर्तन परवर्ती काल की और विशेषतः इसी क्षेत्र ( पश्चिमी ) की प्रवृत्तियाँ मानी गयी हैं जो काल और क्षेत्र की दृष्टि से ( शिलालेखों के प्रमाणों पर आधारित ) बिलकुल उपयुक्त हैं ।

इस प्रकार प्राचीन प्राकृत शब्द 'खेत्तन्न' ( पूर्वी भारत में—मगध देश का प्राचीन रूप ) परवर्ती काल के प्रभाव में आकर ( पश्चिम भारत में ) भले ही 'खेयण' में बदल गया हो और परवर्ती काल की प्रतों में 'खेयण' पाठ अधिकतर मिलता हो तब भी मूल और प्राचीन शब्द तो 'खेत्तन्न' ही है जो जैन आगम ग्रन्थों में प्रयुक्त होना चाहिए था ।<sup>१</sup> इस दृष्टि से शुब्रिंग महोदय द्वारा अपनाया गया 'खेयन्न' शब्द-पाठ भी उचित नहीं ठहरता और न ही अन्य सम्पादकों का 'खेयण' शब्द-पाठ । चूर्ण के पाठों में त्त के स्थान पर क्वचित् ही य मिलता है जो विशेष ध्यान देने योग्य मुद्दा है ।

प्राकृत में होने वाले ध्वनि-परिवर्तनों के कारण जब यह शब्द 'खेत्तन्न' से 'खेदन्न' या 'खेदण्ण' ( त=द, न=ण ) की अवस्था से गुजरा तब ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी कारण तथा मूल परम्परा की अनभिज्ञता के ओझल हो जाने से उसको मूलतः 'खेद' समझ कर उसका उस रूप में अर्थ किया जाने लगा । जिस प्रकार 'मात्र' शब्द का 'मत्त' = 'मात' = 'माय' हो गया; पात्र की 'पाय', 'आत्म' का आत्त-आत-आय' हो गया उसी प्रकार 'खेत्त' का 'खेय' हुआ है । अतः इस शब्द का सम्बन्ध खेदज्ञ<sup>२</sup> के साथ जोड़ने की परम्परा परवर्ती है और उचित भी प्रतीत नहीं होती । पिशल ने तो ( २७६ ) मात्र 'खेयन्न'

१. मूलग्रन्थ की प्रतियों में चूर्णों में ऐसे पाठान्तर भी मिल रहे हैं तब उन प्राचीन पाठों को प्राथमिकता क्यों नहीं दी जानी चाहिए ।

२. संस्कृत और पालि कोशों में 'खेदज्ञ' जैसा कोई शब्द नहीं मिलता है ।



शब्द ही दिया है और उसका संस्कृत रूपान्तर भी 'खेदज्ञ' ही दिया है जबकि उसी स्थल पर 'मायन्न' का रूपान्तर 'मात्रज्ञ' ( संस्कृत ) दिया है ।

इस सम्पूर्ण अन्वेषण और विश्लेषण का सार यही है कि अर्धमागधी भाषा में मूलतः खेत्तन्न शब्द ही था जो 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् आत्मज्ञ के साथ सम्बन्धित था, न कि 'खेदज्ञ' के साथ जो परवर्ती काल की देन है । बदलती हुई प्राकृत भाषा की ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्ति के प्रभाव में आकर खेत्तन्न शब्द ने कालानुक्रम से अनेक रंग बदले या अनेक रूप धारण किये और वे सभी रूपान्तर आचारांग के अलग-अलग संस्करणों में हमें आज भी मिल रहे हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि आगमों के नये संस्करण में 'खेत्तन्न' पाठ ही उचित प्राचीन और यथायोग्य माना जाना चाहिए ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि काल और क्षेत्र की दृष्टि से इस शब्द के अनेक रूपान्तर हुए और वे अलग-अलग प्रतियों में और उनमें भी अलग-अलग रूप में तीन स्तरों में उपलब्ध हो रहे हैं । इन सबका कारण है विविध काल में स्थानिक प्रचलन ( उपयोग ) की भाषा का प्रभाव । यदि यह शब्द भगवान् महावीर के मुख से निकला हो अथवा उनके गणधरों ने इसे भाषाकीय रूप दिया हो अथवा पाटलिपुत्र की प्रथम वाचना ( जैन आगमों की ) का यह पाठ हो तब तो पूर्वी क्षेत्र के शिलालेखीय प्रमाणों के अनुसार 'खेत्तन्न' शब्द ही मौलिक एवं उपयुक्त माना जाना चाहिए । अगर यह मान्य नहीं हो तो मथुरा की दूसरी वाचना का शब्द ( जौरसेनी रूप ) खेदन्न या खेदण्ण ही उपयुक्त हो सकता है । यदि यह भी मान्य नहीं हो तो तीसरी वाचना अर्थात् वलभी का शब्द खेयण्ण ही माना जाना चाहिए । इस तरह तो फलित यही होगा कि पू० देवर्धिगणि ने आगमों की रचना की है और उनकी भाषा में मागधी प्राकृत के स्थान पर महाराष्ट्री भाषा का ही प्रभुत्व है । परन्तु प्रश्न यह है कि एक काल की किसी भी रचना में पूर्ववर्ती काल के अलग-अलग वर्तनी वाले शब्द कैसे आ सकते हैं । इसका समाधान यही हो सकता है कि यदि प्रस्तुत ग्रंथ की रचना प्राचीन है और वह पूर्वी प्रदेश ( मगध देश ) की है तब तो मात्र

‘खेत्तन्न’ शब्द-रूप ही उपयुक्त माना जाना चाहिए और उसी शब्द का प्रयोग आचारांग में सर्वत्र किया जाना चाहिए । भाषा विज्ञान के अनुसार और ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से यही निर्णय उपयुक्त ढहरता है ।



प्राकृत जैन विद्या विकास फण्ड  
३७५ सरस्वती नगर  
अहमदाबाद

# हरिभद्र की श्रावकप्रज्ञप्ति में वर्णित अहिंसा : आधुनिक सन्दर्भ में

—डॉ० अरुण प्रताप सिंह

अहिंसा का परिपालन मानव के सामाजिक अस्तित्व का एक अनिवार्य तत्त्व है। जैन धर्म में अहिंसा एक ऐसा केन्द्र-बिन्दु है जिसके चारों ओर उसका समस्त आचार शास्त्र परिभ्रमण करता है। सत्य, अस्तेय आदि अन्य व्रतों की भी जो विवेचना की गई है, उसमें भी अहिंसा की दृष्टि ही प्रधान है। प्राचीनतम अंग साहित्य से लेकर व्याख्या साहित्य तक—सम्पूर्ण जैन वाङ्मय अहिंसा के विवेचन से भरा पड़ा है। प्राचीन जैन आचार्यों से लेकर आधुनिक विद्वानों तक सभी के लेखों में अहिंसा की विवेचना एक प्रमुख प्रतिपाद्य विषय रही है।

इतने बहुचर्चित विषय के सम्बन्ध में कुछ नवीन तथ्य प्रस्तुत कर पाना मात्र एक गर्वोक्ति ही होगी। फिर भी, आठवीं शताब्दी के जैन आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने श्रावकप्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थ में अहिंसा के सम्बन्ध में जो एक सूक्ष्म दृष्टि प्रस्तुत की है, उसका आधुनिक सन्दर्भों में मूल्यांकन करने का हम एक विनम्र प्रयास करेंगे। हरिभद्र ने अहिंसा की जैन परम्परा से हटकर कोई नई व्याख्या की हो—ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी, उन्होंने अहिंसा के सन्दर्भ में उठने वाले विभिन्न प्रश्नों की जो गम्भीर विवेचना की है, वह आज भी हमारे चिन्तन को न केवल प्रभावित करती है, अपितु हमें उनकी गहन विश्लेषण क्षमता और तर्कनिष्ठ दृष्टि का परिचय भी देती है।

श्रावकप्रज्ञप्ति में आचार्य ने श्रावकों के कर्तव्यों का विवेचन करते हुए १२ व्रतों अर्थात् ५ अणुव्रतों, ३ गुणव्रतों और ४ शिक्षाव्रतों का विवेचन किया है। पाँच अणुव्रतों में प्रथम अणुव्रत स्थूलप्राणिघातविरमण है जिसे अहिंसाणुव्रत भी कहा जाता है। अपनी वैयक्तिक और सामाजिक स्थिति के कारण एक श्रावक अणुव्रत का ही पालन करता है, महाव्रत का नहीं। उस पर परिवार, समाज और राष्ट्र के

अनेक उत्तरदायित्व होते हैं जिन्हें वह वहन करता है। अतः अहिंसा का सर्वतोभावेन पालन उसके लिए शक्य नहीं है। एक श्रावक जब अहिंसाणुव्रत का पालन करने का निश्चय करता है तो उसके हृदय में कौन-कौन से विचारोद्वेलक प्रश्न जन्म लेते हैं और कौन-कौन-सी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जो उसके अहिंसा के पालन में अवरोध उत्पन्न कर सकती हैं, इसका आचार्य हरिभद्र ने तार्किक विश्लेषण किया है और उनका समाधान प्रस्तुत कर एक स्तुत्य कार्य किया है। यह आश्चर्यजनक है कि अहिंसा की समस्याओं के सन्दर्भ में यद्यपि ये ग्रन्थकार की स्वयं की ही परिकल्पनाएँ हैं किन्तु वे आज भी जनसाधारण के मानस को उद्वेलित करती हैं और इसीलिए अहिंसा का आधुनिक सन्दर्भों में मूल्यांकन करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

अहिंसा के परिपालन के सन्दर्भ में आज जो अनेक समस्याएं प्रस्तुत की जाती हैं उनमें Mercy killing की समस्या बहुचर्चित है। एक अत्यधिक दुःखी प्राणी जिसका जीवन नारकीय यातनाओं ने भरा हुआ है और जो कष्टों से मुक्ति चाहता है, उसे सर्वदा के लिए चिरनिद्रा में सुला देना पाश्चात्य जगत् में पुण्य का कार्य माना जाता है। प्रश्न यह है कि अहिंसाणुव्रतधारक श्रावक करुणाभाव से यदि ऐसे किसी दुःखी प्राणी का वध कर उसे नारकीय यातना से मुक्ति दिलाता है, तो ऐसा करने से उसका व्रत भंग होता है या नहीं ?

आचार्य हरिभद्र इसको अनुचित मानते हैं। उनके अनुसार इस प्रकार के कार्य से दुःखी जीवों के कर्म क्षय नहीं होते हैं और बिना कर्मों के क्षय हुये उनको दुःख से छुटकारा नहीं मिल सकता। कर्मों का क्षय अज्ञान के विनष्ट होने पर ही सम्भव है, दुःखी जीवों के वध से नहीं<sup>१</sup>। पुनः “दुःखी जीवों के वध से वधकर्ता को पुण्य प्राप्त होता है” इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हरिभद्र का कहना है कि यदि दुःखी जीवों के वध से वधकर्ता को पुण्य प्राप्त होता है तो वैसी स्थिति में जिन जीवों का वह वध करता है, वे भी यदि जीवित रहते तो अन्य जीवों का वध करके पुण्य प्राप्त करते। इस प्रकार जो दुःखी जीवों के पुण्य-बन्ध में स्वयं अन्तराय बनता है, उसको पुण्य-बन्ध कैसे हो सकता है।

१. श्रावकप्रज्ञप्ति : प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, गाथा १४१-४२

यह सर्वमान्य नियम है कि दूसरे के पुण्यबन्ध में बाधक बनना कभी स्वयं के पुण्य-बन्ध का हेतु नहीं हो सकता<sup>१</sup> ।

आचार्य हरिभद्र के उपर्युक्त दृष्टिकोण का आधुनिक सन्दर्भों में मूल्यांकन करना आवश्यक है। आचार्य चूँकि किसी भी प्रकार की हिंसा के विरुद्ध हैं अतः धर्म की परम्परागत दृष्टि से उनकी यह व्याख्या उचित हो सकती है। परन्तु जैन धर्म के व्यापक परिप्रेक्ष्य एवं लोक-व्यवहार की दृष्टि से मुझे यह व्याख्या उचित नहीं प्रतीत होती। व्यक्ति को उसकी नारकीय यातना से मुक्ति दिला देने में निश्चय ही करुणा का भाव छिपा है, हिंसा का नहीं। पवित्र एवं निःस्पृह भाव से कोई श्रावक यदि असह्य दर्द से कराहते हुए किसी व्यक्ति की हत्या कर देता है तो उसका यह कार्य अनुचित नहीं कहा जा सकता। यह अवश्य है कि मृत्यु का आलिगन करने वाले व्यक्ति की इसमें सहमति होनी चाहिए और यह निश्चित होना चाहिए कि उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है तथा मानसिक रूप से भी वह मृत्यु के लिए तैयार है।

जैन धर्म के परम्परागत दृष्टिकोण से भी विचार करें तो यह कृत्य अधार्मिक नहीं है। हिंसा के क्या कारण हैं तथा हिंसा के कितने रूप हैं—इस पर जैन आचार्यों ने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। जैन आचार्यों के अनुसार हिंसा के चार कारण हैं—(१) राग, (२) द्वेष, (३) कषाय और (४) प्रमाद। इन्हीं कारणों के वशीभूत होकर यदि कोई व्यक्ति हिंसा करता है, तभी वह हिंसाजनित पाप का भागी होगा, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार जैन आचार्यों ने हिंसा के चार रूप माने हैं—

(१) संकल्पजा अर्थात् संकल्प या विचारपूर्वक हत्या करना।

(२) विरोधजा अर्थात् स्वयं के अधिकारों के रक्षण हेतु हिंसा करना।

(३) उद्योगजा अर्थात् उद्योग एवं व्यवसाय में होने वाली हिंसा।

(४) आरम्भजा अर्थात् जीवन निर्वाह के निमित्त होने वाली हिंसा।

उपर्युक्त सन्दर्भ में हम देखते हैं कि दर्द से कराहते हुए व्यक्ति की हिंसा में राग-द्वेष, कषाय एवं प्रमाद कोई भी कारण विद्यमान नहीं है

१. वहमाणो ते नियमा करेइ वहपुन्नमंतरायं से ता कहणु तस्स पुन्नं तेसिं वखवणं व हेऊओ । —श्रावकप्रज्ञप्ति, गा० सं० १४३

और न यह हिंसा के चार भेदों के अन्तर्गत ही आती है। हिंसा-अहिंसा का निर्धारण में भाव ही मुख्य है। यदि श्रावक का भाव शुद्ध है तो उसका कार्य भी शुद्ध माना जाना चाहिए। जैन दर्शन में यह माना गया कि सम्यक् रूप से समितियों के पालन में दत्तचित्त साधु द्वारा यदि चींटी आदि जीवों की हिंसा हो जाती है, तो वह साधु पाप का भागी नहीं क्योंकि उसका भाव शुद्ध है, उसी प्रकार यदि कोई श्रावक शुद्ध भाव से दर्द से कराहते हुए को उसकी पीड़ा से सर्वदा के लिए मुक्ति दिला देता है तो वह श्रावक भी पाप का भागी नहीं माना जा सकता।<sup>१</sup>

आधुनिक समाज में हिंस्र पशुओं एवं विषैले जीवों के वध को उचित माना जाता है। यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि सिंह आदि हिंस्र पशुओं का वध न किया जाये तो वे किसी लोकोपकारक व्यक्ति (साधु) की हिंसा कर सकते हैं। इस भावी हिंसा-दोष की सम्भावना से हिंस्र एवं विषैले जीवों के वध को अनैतिक नहीं माना जाता है।

आचार्य हरिभद्र ने इसका भी समाधान प्रस्तुत किया है। आचार्य का कहना है कि लोकोपकारक व्यक्ति की सम्भावित हिंसा के भय से किसी प्राणी के वध को उचित मान लेना युक्तिसंगत नहीं। क्योंकि सम्भावना यह भी हो सकती है कि वह लोकोपकारक संत पुरुष भविष्य में निकृष्ट आचरण करने लगे अथवा कुमार्ग का उपदेश देने लगे अथवा परस्त्रीगामी भी हो जाये<sup>२</sup>। पुनः सम्भावना यह भी है कि मारे जाने वाले सिंह आदि हिंस्र जीव अपनी वृत्तियों के कारण नरक को जायें अथवा जीवित रहकर किसी साधु के समीप सम्यक्त्व प्राप्त कर आत्म-कल्याण कर लें। संक्षेप में, हरिभद्र का कहना है कि भावी हिंसा की सम्भावना से किसी प्राणी का वध उचित नहीं। यदि इस प्रकार की भावी हिंसा के भय से हिंसा की जाने लगे तो समस्त लोकजीवन हिंसा से व्याप्त हो जायेगा<sup>३</sup>। आचार्य का कहना है कि इस प्रकार की भावी

१. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २०४

२. श्रावकप्रज्ञप्ति, गाथा सं० १६८-६९

३. वही, १७१-७२

हिंसा के भय से हिंसा का समर्थन करना अनुभव, लोक तथा आगम के विरुद्ध है<sup>१</sup> ।

आचार्य हरिभद्र की उपर्युक्त दृष्टि का यदि हम मूल्यांकन करें तो उनका तर्क कसौटी पर पूरी तरह खरा उतरता है । प्रत्येक प्राणी को जीवित रहने का अधिकार है । अहिंसा का आधार ही जीवन के प्रति सम्मान एवं समत्व भावना है । जिस प्रकार हमें जीवन प्रिय है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी अपना जीवन प्रिय होता है । इस सम्बन्ध में दशवैकालिक का यह मन्तव्य है कि सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता<sup>२</sup> । यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है जैसा कि आचारांग हमें बताता है 'सभी प्राणी सुखी रहना चाहते हैं एवं सभी को दुःख प्रतिकूल हैं'<sup>३</sup> । अतः चाहे सिंह आदि भयानक पशु हों अथवा केंचुए आदि हड्डी रहित जीव-सभी जीवित रहना चाहते हैं । उनके वध को किसी भी तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता । सिंह आदि पशुओं के वध में भय ही प्रमुख है । भय के कारण यदि हम एक प्राणी की हत्या करते हैं तो उन्हीं परिस्थितियों में दूसरा प्राणी भी हमारी हत्या कर सकता है । यदि यह क्रम अनवरत रूप से चलता रहा तो सृष्टि की प्रक्रिया ही बन्द हो जायेगी । अहिंसा भयमुक्त वातावरण प्रदान करती है ।

अहिंसा के सम्बन्ध में कुछ दार्शनिक प्रश्न भी उठाये गये हैं । यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि जीव नित्य है या अनित्य । यदि जीव नित्य है तो उसका वध हो ही नहीं सकता और यदि वह अनित्य है तो जो स्वयं नष्ट होने वाला है, उसका भी वध कैसे सम्भव है ? फलस्वरूप जब दोनों पक्षों में वध की सम्भावना ही नहीं है तो प्राणि-वध से विरत रहना निरर्थक ही है<sup>४</sup> । इसी प्रकार यदि जीव शरीरः

१. "इय अनुभवलोगागमविरुद्धमेयं न नायसमयाणं  
मइविब्भमस्स हेऊ वयणं भावत्थनिस्सारं ।"

—श्रावक प्रज्ञप्ति, गाथा सं० १७४

२. दशवैकालिक सूत्र, ६।११

३. आचारांग सूत्र, १।२।३

४. श्रावक प्रज्ञप्ति, गाथा सं० १७६-७७

से भिन्न है तो उसके शरीर का वध करने पर उससे भिन्न उस जीव का वध सम्भव ही नहीं है अतः शरीर-वध से जीव का वध हो ही नहीं सकता। पुनः यदि जीव शरीर से अभिन्न है तो शरीर के नष्ट होने पर जीव भी नष्ट हो जायेगा—ऐसी स्थिति में किसी प्राणी का वध करने पर न तो पुण्य होगा और न पाप ही<sup>१</sup>। अतः अहिंसा व्रत पालन करने का कोई अर्थ ही नहीं होगा।

इन प्रश्नों का उत्तर देते हुये हरिभद्र ने जैन दर्शन के अनेकान्तवादी दृष्टिकोण को अपनाया है। आचार्य का कहना है कि जीव कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है—इसी प्रकार वह शरीर से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न भी है—अतः जीव का वध सम्भव है और उससे होने वाला पाप और पुण्य भी सम्भव है<sup>२</sup>। जीव द्रव्यदृष्टि से नित्य है, वहीं पर्यायदृष्टि से अनित्य है। जीव सर्वदा किसी न किसी शरीर के आश्रित रहता है तथा शरीर से किये जाने वाले शुभ-अशुभ कार्यों से पुण्य-पाप उपार्जित करता है तथा उसके फल को भी भोगता है। साथ ही, जीव जहाँ स्वभावतः चेतन एवं अमूर्तिक है, वहीं शरीर जड़ और मूर्तिक है। इस प्रकार स्वरूप-भेद के कारण वह शरीर से भिन्न है किन्तु शरीर में व्याप्त होकर रहने के कारण वह उससे अभिन्न है और इसी आधार पर मूर्तिक भी है। मूर्तिक होने से उसका वध भी सम्भव है।

आचार्य हरिभद्र के उपर्युक्त मत की यदि हम समीक्षा करें तो उनका मत उपयुक्त प्रतीत होता है। यदि जीव को हम कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य नहीं मानेंगे तो हम संसार और लोकव्यवहार की कार्यप्रणाली को सम्यक् रूप से नहीं समझ सकते। यदि हम जीव को सर्वथा नित्य मानें तो उत्पत्ति और विनाश से रहित संसार की कल्पना नहीं की जा सकती और इसके विपरीत, यदि जीव को नितान्त क्षण-भंगुर मानें तो संसार का मूलकारण ही नहीं सम्भव होगा क्योंकि इस प्रकार की स्थिति में वह अपने कृत्यों के फल का भोग ही नहीं कर सकता तथा साथ ही, पुनर्जन्म और पाप-पुण्य की अवधारणा ही समाप्त हो जायेगी। यह एक हास्यास्पद बात होगी कि पुण्य और पाप का

१. श्रावकप्रज्ञप्ति, गाथा १७८-७९

२. वही, गाथा १८०-९०



आचरण कोई और करे तथा फल कोई दूसरा भोगे । अतः जीव की कथंचित् नित्यता और कथंचित् अनित्यता एवं इसी प्रकार जीव और शरीर की कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता ही संसार और उसकी कार्यप्रणाली को समझने का सम्यक् सिद्धान्त हो सकती है ।

कुछ व्यक्ति यह तर्क देते हैं कि व्यक्ति की मृत्यु असमय नहीं होती । हर व्यक्ति की मृत्यु निश्चित है और वह उसी समय और उसी विधि से होती है । इनका तर्क है कि पूर्वकृत आयु कर्म के क्षीण हुए बिना कोई जीव मरता नहीं और आयुकर्म के क्षय हो जाने पर कोई स्वयं ही जीवित नहीं रहता । इस प्रकार जब प्राणी के अकाल मृत्यु की सम्भावना ही नहीं है तब वध की निवृत्ति कराना हास्यास्पद ही है क्योंकि ऐसी अवस्था में वध हो ही नहीं सकता<sup>१</sup> ।

आचार्य हरिभद्र को यह तर्क स्वीकार्य नहीं है । उनका कहना है कि पूर्वकृत कर्मों का क्षय किया जाता है । संवर और निर्जरा इन्हीं उपायों के नाम हैं । यदि ऐसा नहीं होगा तो मुक्ति की प्राप्ति भी असम्भव हो जायेगी । जिस प्रकार आम आदि को गड्ढे या पलाल आदि में रखकर कृत्रिम उपाय से समय से पूर्व ही पका लिया जाता है, उसी प्रकार कर्म को भी तप आदि विभिन्न उपायों से अपनी स्थिति के पूर्व ही पका लिया जाता है<sup>२</sup> । अतः व्यक्ति को प्राणि-वध से विरत ही रहना चाहिए ।

आचार्य हरिभद्र का उपर्युक्त तर्क सही है । सांसारिक लोकव्यवहार के उदाहरणों को देकर आचार्य ने अपने तर्क को सबल आधार प्रदान किया है । हम सांसारिक क्रिया-कलापों को देखकर ही किसी तथ्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं । जब आम आदि या इसी प्रकार की अन्य वस्तुएं समय से पूर्व पक सकती हैं तो कर्मों का क्षय भी समय से पूर्व हो सकता है । अतः किसी प्राणी का वध करके यह तर्क देना कि उसकी मृत्यु इसी विधि से निश्चित थी, उचित नहीं । यदि हम पहले से नहीं जानते हैं कि उसकी मृत्यु मेरे हाथों निश्चित है—तो हमें हिंसा करने का क्या अधिकार है । यह तो हमें बाद में ही पता होता है कि उसकी मृत्यु

१. श्रावकप्रज्ञप्ति, गाथा १९२-१४

२. वही, गाथा २००-२०३

इस विधि से हुई। पुनः व्यक्ति की स्व या पर के निमित्त से अकाल मृत्यु सम्भव है और इस प्रकार वधकर्ता अपने पाप के बन्ध से बच नहीं सकता।

कुछ व्यक्ति इस तर्क को आधार मानकर कि व्यक्ति को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है, प्राणि-वध को उचित ठहराते हैं। उनका मत है कि जो जीव जिस प्रकार का कर्म करता है, उसे उस कर्म के विपाक के अनुसार फल मिलता है। वध करने वाला प्राणी तो केवल निमित्त मात्र होता है। वध्यमान प्राणी अपने किये हुए कर्मों के कारण ही वधक के हाथों मारा जाता है। न वह ऐसा कर्म करता और न वह किसी के द्वारा मारा जाता। यह इसलिए भी सत्य प्रतीत होता है कि वधक किसी विशेष प्राणी का ही वध करता है, सबका नहीं। अतः सिद्ध होता है कि जिसने अमुक प्राणी के द्वारा मारे जाने का कर्मबन्ध किया है, वही उसके द्वारा मारा जाता है, अन्य नहीं<sup>१</sup>। इसलिए इसमें मारने वाले का कोई अपराध नहीं।

विद्वान् आचार्य ने इस मत का निराकरण अत्यन्त तार्किक ढंग से किया है। उनका कहना है कि प्राणी यद्यपि अपने किये गये कर्म के उदय से ही मारा जाता है, फिर भी मारने वाले व्यक्ति के अन्तःकरण में संक्लेश-परिणाम होता है, उससे उसके पापकर्म का बन्ध होता है। इसके विपरीत, वध-विरति की प्रतिज्ञा से यह सम्भव है कि वधक के हृदय में निर्मल भाव उत्पन्न हों जिसके प्रभाव से वह प्राणी का घात न करके मुक्ति प्राप्ति का प्रयत्न करे<sup>२</sup>। इसके अतिरिक्त यह एकान्तिक नियम नहीं है कि वध्यमान प्राणी को अपने कर्म के अनुसार किसी व्यक्ति विशेष के हाथों मरना पड़ेगा। हरिभद्र सूरि का कहना है कि प्राणी जिस प्रकार के विपाक से युक्त कर्म को बांधता है, उसमें आत्मा के परिणाम-विशेष से अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रमण आदि भी संभव हैं। अतएव जो कर्म जिस रूप से बंधा है, उसके विपाक की स्थिति में हीनाधिकता हो सकती है<sup>३</sup>। अतः यह अनिवार्य नहीं है कि व्यक्ति की मृत्यु जिस निमित्त से होनी है, उसी निमित्त से हो।

१. श्रावकप्रज्ञप्ति, गाथा २०९-१२

२. वही, २१५

३. वही, २१६

आचार्य हरिभद्र का यह दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सही है। किसी प्राणी का वध करने पर वधकर्ता के अन्तःकरण में स्वभावतः ही संक्लेश होता है। इसके अतिरिक्त, बुरे कर्मों का बुरा ही फल मिले—यह तो आदिम युग की बर्बरता का उदाहरण होगा। फल (विपाक) ऐसा मिलना चाहिए जो मानवीय होने के साथ ही उपदेशात्मक भी हो। ऐतिहासिक उदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि सत्संग अर्थात् महान् व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर क्रूर से क्रूर व्यक्ति भी साधु हो गये और आत्मकल्याण की साधना में रत हो गये। अतन्कृत-दशांग में वर्णित अर्जुन माली का उदाहरण द्रष्टव्य है। वह अपने प्रण के अनुसार प्रतिदिन छः व्यक्तियों की हत्या करता था और उसका यह क्रूर कार्य छः माह तक चला। अन्त में वह महावीर के सम्पर्क में आकर साधु हो गया और अपने कर्मों का क्षय कर मुक्त हो गया। महात्मा बुद्ध और भयानक डाकू अंगुलिमाल का उदाहरण सर्वविदित है। गुणवान् व्यक्ति के सम्पर्क में आकर एक भयानक डाकू कैसे सच्चरित्र साधु बन जाता है—यह उदाहरण दर्शनीय है। महात्मा गांधी का यह दृष्टिकोण कि पाप से घृणा करो, पापी से नहीं—इसी सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने बुराई का जिस अहिंसक उपायों से सामना किया—वह सर्वप्रसिद्ध है। जयप्रकाश नारायण ने क्रूर डाकुओं के हृदय को परिवर्तित कर किस प्रकार उनको एक सच्चरित्र मानव के रूप में जीने का उपदेश दिया—उपर्युक्त सन्दर्भों में इसे अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। अतः आचार्य हरिभद्र का यह दृष्टिकोण तार्किक होने के साथ ही उपदेशात्मक भी है और आधुनिक युग में महात्मा गांधी द्वारा इस पर सफल प्रयोग भी किया जा चुका है।

कुछ व्यक्तियों का यह तर्क है कि बालक आदि के वध में अधिक और वृद्ध आदि के वध में अल्प हिंसा होती है।

इस मत का निराकरण करते हुए हरिभद्रसूरि का कहना है कि आगम में हिंसा का वर्णन द्रव्यक्षेत्रादि के भेद से भिन्न-भिन्न होता है। चूँकि पाप का जनक संक्लेश है अतः वह बाल व कुमार के वध में अधिक और वृद्ध एवं युवा के वध में कम हो—ऐसा नियम नहीं है। परिस्थिति के अनुसार वह इसके विपरीत भी हो सकता है।<sup>१</sup>

१. श्रावकप्रज्ञप्ति, गाथा २२१-२२

आचार्य हरिभद्र का उपर्युक्त मत जैन आगम ग्रन्थों के अनुकूल है । जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं—हिंसा-अहिंसा के निर्णय का मुख्य आधार भाव है । हिंसक की मानसिक वृत्ति के आधार पर ही हिंसा-जनित अल्प-बहुत्व पाप का निर्णय किया जा सकता है । जैन परम्परा में हिंसा के अल्प-बहुत्व के निर्णय में जीवों की संख्या तथा उनकी युवावस्था अथवा वृद्धावस्था को गौण माना गया है । इसमें मानसिक भाव के साथ-साथ व्यक्ति की ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास क्षमता को मुख्य आधार बनाया गया । यही कारण था कि भगवतीसूत्रकार ने एक अहिंसक ऋषि की हत्या करने वाले को अनन्त जीवों की हिंसा करने वाला बताया है ।<sup>१</sup> इस सन्दर्भ में हम देखते हैं कि हिंसा के अल्प-बहुत्व के निर्णय में संख्या अथवा अवस्था का उतना स्थान नहीं है जितना कि व्यक्ति की स्वयं की सामाजिक मूल्यवत्ता एवं उसकी आध्यात्मिक विकास क्षमता का ।

आचार्य हरिभद्र ने हिंसा के चार उदाहरण देकर हिंसा के चार रूपों को समझाने का सफल प्रयोग किया है<sup>२</sup> :

- (क) ईर्यासमिति के पालन में दत्तचित्त किसी साधु के पैरों तले चींटी आदि जीवों की मृत्यु हो जाने पर भी साधु हिंसा का भागी नहीं होता क्योंकि साधु का उद्देश्य प्राणी-पीड़न नहीं है, वह तो प्रमाद रहित होकर सावधानी पूर्वक ही गमन कर रहा है ।
- (ख) अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी को सर्प समझकर उसे मार डालने के विचार से उसके ऊपर शस्त्र का प्रहार करने वाला व्यक्ति सर्प-घात रूप हिंसा के पाप का भागी होता है । यहाँ व्यक्ति को सर्प-वध के बिना ही केवल सर्पघात के परिणाम (मनोभाव) से साम्परायिक बन्ध होता है ।
- (ग) एक व्याध मृग के शिकार के विचार से धनुष से उसके ऊपर बाण छोड़ता है जिससे विद्ध होकर मृग मृत्यु को प्राप्त हो जाता है । वह व्याध द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से हिंसक है ।
- (घ) एक गुरु शिष्य को सुयोग्य विद्वान् बनाने के लिए उसको मारने-ताड़ने आदि का विचार प्रकट करता है । यद्यपि ऐसे शब्दों के

१. भगवतीसूत्र, ९।३।१०७

२. श्रावकप्रज्ञप्ति, गाथा सं० २२३-२९

उच्चारण मात्र से हिंसा होती है परन्तु इस प्रकार के आचरण में न तो मारण-ताड़न किया जाता है और न गुरु का वैसा अभिप्राय ही रहता है, अतः वह दोष से रहित है ।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि हिंसा की हीनाधिकता हिंसक के अभिप्राय-विशेष पर निर्भर है । हिंसा में संकल्प ही प्रमुख होता है । हिंसा के संकल्प के अभाव में यदि हिंसा होती है तो वह हिंसा नहीं मानी जा सकती । गृहस्थ श्रावक द्वारा भूमि जोतते हुए, मन्दिर बनाने के लिए पत्थर तोड़ते हुए, मुनि के द्वारा पद-यात्रा करते हुए यदि किसी प्राणी की हिंसा होती है तो उसे पाप के फल से मुक्त माना जाना चाहिए । हिंसा राग, द्वेष, कषाय और प्रमाद के कारण ही होती है और जब ये भाव मनुष्य में नहीं हैं तो उसे पाप का भागी नहीं माना जा सकता । जैसा कि प्रथम उदाहरण में हम देखते हैं कि प्रमादरहित होने के कारण मुनि त्रस-जीव की हत्या के बाद भी पाप का भागी नहीं है—एक गुरु मारने-ताड़ने रूप शाब्दिक हिंसा करने पर भी पाप से मुक्त है । परन्तु एक व्यक्ति यदि रस्सी को सांप समझकर मारता है तो वह पाप का भागी है क्योंकि वह संकल्पपूर्वक और द्वेष तथा क्रोध से मारता है । मेरी समझ से समाज या राष्ट्र के दायित्व का निर्वाह करते हुए यदि हिंसा होती है तो वह हिंसा के पाप का भागी नहीं है क्योंकि वह कुछ की हत्या कर बहुत की जान बचाता है । गीता में भी कृष्ण अर्जुन को विद्वेष भावना से रहित होकर, राग-द्वेष तथा प्रमाद के बिना युद्ध करने को कहते हैं । ऐसी स्थिति में वह हिंसा हिंसा नहीं है । निशीथ चूर्णि<sup>१</sup> में एक कथा का वर्णन है जिसमें तीन सिंहों की हत्या के पश्चात् भी एक मुनि को पाप का भागी नहीं माना गया है अपितु आश्चर्यजनक रूप से उसे विशुद्ध माना गया है क्योंकि उसने तीन सिंहों की हत्या करके हजारों साधुओं की जान बचायी थी । अतः मेरी समझ से यदि बृहत्तर हित के लिए हिंसा होती है तो उसे हिंसा की कोटि में नहीं रखा जा सकता ।

इसके उपरान्त आचार्य हरिभद्र स्थूलप्राणिवधविरति के ५ अति-

## १. निशीथचूर्णि

चार बताते हैं<sup>१</sup>, जो निम्न हैं—

- ( १ ) बन्ध अर्थात् रस्सी आदि से पशुओं तथा मनुष्यों को बाँधना
- ( २ ) वध अर्थात् मारना-ताड़ना
- ( ३ ) विच्छेद अर्थात् शरीर का छेदन करना
- ( ४ ) अति-आरोपण अर्थात् आवश्यकता से अधिक बोझ लादना
- ( ५ ) भक्तपानव्युच्छेद अर्थात् भोजन-पान का निरोध करना ।

आचार्य हरिभद्र का श्रावकों को यह उपदेश है कि वे इन अति-चारों से यथासम्भव बचने का प्रयास करें। आधुनिक काल में भी इन अतिचारों से आसानीपूर्वक बचा जा सकता है। हमें बिना प्रयोजन के पशुओं आदि को नहीं बाँधना चाहिए तथा यदि बाँधना आवश्यक हो तो ऐसा बाँधना चाहिए जिससे वे आकस्मिक विपत्ति में सरलतापूर्वक छुड़ाकर अपने प्राणों की रक्षा कर सकें। इसी प्रकार शरीर का छेदन अथवा मारना-ताड़ना भी प्रयोजनवश होना चाहिए, निर्दयतापूर्वक नहीं। इसी प्रकार हम दासों या पशुओं पर आवश्यकता से अधिक बोझ न लादकर अतिचार से बच सकते हैं। जहाँ तक भोजन-पान के निरोध का प्रश्न है, वह भी शिक्षाप्रद होना चाहिए। उनके भोजन-पान का निरोध कुछ ही समय के लिए करना चाहिए ताकि उन्हें व्याकुलता का अनुभव न हो।

अन्त में आचार्य हरिभद्र अहिंसाणुव्रत की रक्षा के लिए श्रावक को शुद्ध जल पीने एवं जीव-जन्तुओं से रहित विशुद्ध लकड़ी एवं खाद्य पदार्थ के उपयोग की सलाह देते हैं<sup>२</sup> ।

शुद्ध जल पीने एवं जीव-जन्तुओं से रहित खाद्य पदार्थ के उपभोग की सलाह आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा समर्थित है। शुद्ध जल या तो साफ कपड़े से छानकर अथवा उबालकर प्राप्त किया जा सकता है। दोनों दृष्टियों से यह स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है। जीव-जन्तु रहित लकड़ी के उपयोग की सलाह मुख्यतः अहिंसा को

१ श्रावकप्रज्ञप्ति, गाथा सं० २५८

२. “परिसुद्धजलग्रहणं दारूय-धन्नाइयाण तह चैव गहियाण वि परिभोगो विहीइ तसरक्खणट्ठाए।”

—वही, २५९

लेकर है। प्राचीन समय में लकड़ी का उपयोग प्रमुखतः ईंधन के लिए किया जाता था। आधुनिक काल में गैस एवं कोयले का प्रचुर उपयोग हो रहा है। वैसे भी हमें लकड़ियों ( वनस्पतियों ) का निरर्थक उपयोग नहीं करना चाहिए। शुद्ध खाद्य-पदार्थ के उपभोग का जो निर्देश दिया गया है वह मुख्यतः हमारे स्वास्थ्य से सम्बन्धित है। खाद्यपदार्थों में मिलावट से हमारे शरीर में अनेक रोग हो जाते हैं। इनसे बचने का सर्वोत्तम उपाय शुद्ध खान-पान ही है।

इस प्रकार आचार्य हरिभद्र ने अहिंसा के सम्बन्ध में श्रावकों को जो निर्देश-उपदेश दिया है, आधुनिक समाज में भी उनकी सार्थकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। यदि उसे समाज में रहना है तो उसे समाज के सभी व्यक्तियों के सुख-सुविधाओं का ध्यान रखना पड़ेगा। अहिंसा समानता का पाठ पढ़ाती है। जहाँ तक सिंह आदि हिंस्र एवं सर्प आदि विषैले जन्तुओं का प्रश्न है, आधुनिक सरकार इनके संरक्षण-परिरक्षण का हर सम्भव प्रयास कर रही है। अनेक आरण्य-अभयारण्य घोषित कर दिये गये हैं जहाँ पशुओं की हत्या या शिकार निषिद्ध है। हम समाज में “जियो और जीने दो” के सिद्धान्त का पालन कर अहिंसा की मूल भावना के निकट पहुँच सकते हैं।



प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास  
श्री बजरंग महाविद्यालय दादर आश्रम  
सिकन्दरपुर, बलिया, उ० प्र०





## ईश्वरत्व :

# जैन और योग—एक तुलनात्मक अध्ययन

—डॉ० ललितकिशोर लाल श्रीवास्तव

सामान्यतया ईश्वर को धर्म का केन्द्र बिन्दु माना जाता है। अपूर्ण, ससीम एवं दुर्बल मानव स्वभावतः एक असीम, सर्वशक्तिशाली एवं पूर्ण अलौकिक सत्ता की कल्पना करता है जो उससे अधिक बलवान् हो और जो उसकी मांगों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करके उसकी मदद के लिए सदैव तैयार रहे। लेकिन भारतीय परम्परा में धर्म के लिए ईश्वर की अवधारणा को स्वीकार करना बाध्यता नहीं है। जैन और बौद्ध धर्म बिना ईश्वर की सत्ता स्वीकार किये ही पहले दर्जे के धर्म की कोटि में गिने जाते हैं। यद्यपि इन धर्मों में भी इनके संस्थापक को कालान्तर में ईश्वरत्व का दर्जा प्राप्त हो जाता है। जैन धर्म में तीर्थंकर ईश्वररूप माने जाते हैं। वे अनंतज्ञान, अनंत शक्ति से युक्त हैं, उनमें राग-द्वेषादि नहीं है, वे समस्त ईश्वरीय गुणों से युक्त हैं। तीर्थंकर जगत् की सृष्टि के कारण नहीं हैं और न उनकी कृपा से निर्वाण की प्राप्ति ही होती है। योगदर्शन में भी ईश्वर को “पुरुष विशेष” माना गया है। वह सृष्टिकर्ता नहीं है। सृष्टि तो प्रकृति से सम्बन्धित है। विश्व विकास का परिणाम है।

### I

सैद्धान्तिक रूप से जैन दर्शन ईश्वर विचार का खण्डन करता है। ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये गये परम्परागत प्रमाणों की आलोचना करके ईश्वर की सत्ता का निषेध करता है।<sup>१</sup> ईश्वर की सत्ता का खण्डन करने के लिए जैन दर्शन के पास ठोस आधार हैं।

१. द्रष्टव्य—प्रमेयकमलमार्तण्ड ( आचार्य प्रभाचन्द्र ) द्वितीय अध्याय तथा स्याद्वादमंजरी ( मल्लिसेन सूरि ) श्लोक ६ और उस पर हेमचन्द्र की टीका ।

यहाँ पर उन कारणों पर प्रकाश डालना अपरिहार्य है जिनके आधार पर ईश्वर-सत्ता का खण्डन किया जाता है :—

अ—सृष्टि की रचना द्रव्यों से हुई है ।

ब—ईश्वर को निर्माण अथवा सृष्टि की आवश्यकता नहीं है ।

स—मनुष्य अपना भाग्य-विधाता स्वयं है । कर्म से ही जीवन का साध्य प्राप्त किया जा सकता है । साधना द्वारा ही व्यक्ति परमात्म-पद को प्राप्त कर सकता है, ईश्वर कृपा से नहीं ।

द—जैन धर्म ब्राह्मण धर्म के प्रति एक प्रतिक्रिया है अतः ईश्वर-वाद, वर्ण-व्यवस्था, जातिवाद, यज्ञ आदि बाह्य कर्मकाण्ड, दान-दक्षिणा आदि के विरोध में कहना उसकी स्वाभाविकता है ।

मानव और विश्व की प्रत्येक वस्तु का कारण जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य है । द्रव्य संख्या में छः हैं—आकाश, काल, पुद्गल, जीव, धर्म और अधर्म । इन्हीं छः द्रव्यों के पारस्परिक संयोग एवं सम्मिश्रण के कारण विश्व की वस्तुओं एवं मानव की उत्पत्ति होती है । असंख्य जीवों एवं पदार्थों की परस्पर प्रतिक्रिया के सिद्धान्त को स्वीकार कर जैन दर्शन इस विश्व के विकास को संभव बना देता है ।<sup>१</sup> जगत् के सृजन अथवा संहार के लिये ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । इसके मत से—विद्यमान पदार्थों का नाश नहीं हो सकता और न ही असत् से सृष्टि का निर्माण संभव है । जन्म अथवा विनाश वस्तुओं के अपने गुणों एवं प्रकारों के कारण होता है ।<sup>२</sup> हमारे शरीर और अन्य जड़ द्रव्य अणुओं के संयोग से ही बने संघात हैं । मन, वचन तथा प्राण जड़ तत्त्वों से ही निर्मित हैं ।<sup>३</sup> इस तरह जगत् का निर्माण एक स्वाभाविक परिणति है ।

जैनमत में मानव प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ रचना है । मानव से परे किसी अन्य श्रेष्ठ सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती । कर्म से ही

१. भारतीय दर्शन - डा० राधाकृष्णन् (हिन्दी अनुवाद) भाग-१ राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली १९८९, पृ० ३०२-३०३

२. पञ्चास्तिकाय समयसार, १५

३. तत्त्वार्थसूत्र-५/१९

जीवन का साध्य प्राप्त किया जा सकता है। साधना ही व्यक्ति को परमात्मपद की प्राप्ति करा सकती है। जैन धर्म में साध्य एवं साधक में अभेद माना गया है। समयसार टीका में आचार्य अमृतचन्दसूरि लिखते हैं : “पर द्रव्य का परिहार एवं शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि ही सिद्धि है।”<sup>१</sup> वस्तुतः “जैन साधना का लक्ष्य अथवा आदर्श कोई बाह्य तत्त्व नहीं है, वह तो साधक का अपना ही निज रूप है। उसकी ही अपनी पूर्णता की अवस्था है। साधक का आदर्श उसके बाहर नहीं है वरन् उसके अन्दर ही है। साधक को उसे पाना भी नहीं है क्योंकि पाया वह जाता है जो व्यक्ति में अपने में नहीं हो अथवा अपने से बाह्य हो।”<sup>२</sup> वह आत्मा जो कषाय और राग-द्वेष से युक्त है और उनसे युक्त होने के कारण बद्ध, सीमित और अपूर्ण है, वही आत्मा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सौख्य एवं अनन्त शक्ति को प्रकट कर मुक्त एवं पूर्ण बन जाता है।<sup>३</sup> उपाध्याय अमरमुनि जी कहते हैं कि आत्मा के बाहर एक कण में भी साधना की उन्मुखता नहीं है। इसीलिए जैन धर्म में आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक संबंध को लेकर कहा गया है—“अप्पा सो परमप्पा” अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। फर्क केवल कर्मरूप आवरण का है।<sup>४</sup>

जैन धर्म में इस बात पर जोर दिया गया है कि मनुष्य परमात्मपद को अपने ही प्रयत्न से प्राप्त कर सकता है, ईश्वर कृपा से नहीं। स्वप्रयत्न, स्वसाधना और स्वकर्म ही उसे उसके लक्ष्य तक पहुँचा सकते हैं। “जैन धर्म ने किसी विश्वनियंता ईश्वर को स्वीकार करने के स्थान पर मनुष्य में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की और यह बताया कि व्यक्ति ही अपनी साधना के द्वारा परमात्मदशा को प्राप्त कर सकता है।”<sup>५</sup> जैनधर्म केवल उन लोगों के लिए है जो वीर और दृढ़चित्त हैं।

१. समयसार टीका ३०५

२. धर्म का मर्म—डॉ० सागरमल जैन, पार्श्वनाथ वि० शो० संस्थान, वाराणसी १९८६, पृ० २२

३. वही, पृ० २३

४. वही

५. “जैन अध्यात्मवाद : आधुनिक सन्दर्भ में”—डॉ० सागरमल जैन प्रा० वि० शो० संस्थान ( लघु प्रकाशन नं० ११ ) १९८३, पृ० १५-१६

इसका मूल मन्त्र स्वावलम्बन है। यही कारण है कि यहाँ मुक्त आत्मा को “जिन” या “वीर” कहा जाता है। जैनियों को कर्मवाद जैसी अलंघ्य व्यवस्था में विश्वास है। पूर्वजन्म के कर्मों का नाश विचार, वचन और कर्मों के द्वारा ही हो सकता है। तीर्थंकर तो मार्ग प्रदर्शन के लिए केवल आदर्श का काम करते हैं।<sup>१</sup> इस तरह यथार्थ स्वरूप को पहचानने से ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है, तीर्थंकरों की भक्ति से नहीं।<sup>२</sup>

जैनधर्म वैदिक कर्मकाण्डों के प्रति एक प्रतिक्रिया है। अतः जैनियों के लिए यह स्वाभाविक है कि वे वैदिक धर्म की उन मान्यताओं का खण्डन करें। यही कारण है कि ईश्वरवाद, वर्ण-व्यवस्था, जातिवाद, यज्ञ आदि बाह्य कर्मकांड, दान-दक्षिणा आदि का खण्डन जैनधर्म में मिलता है।<sup>३</sup>

सैद्धान्तिक रूप से जैनधर्म अनीश्वरवादी है किन्तु व्यावहारिक रूप से इसे ईश्वरवादी कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। यह एक ऐसी सत्ता या शक्ति में विश्वास रखता है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है। यहाँ सिद्धजीव अर्थात् तीर्थंकर ईश्वर का रूप ले लेते हैं। “जहाँ तक परमात्मा के प्रति श्रद्धा या आस्था का प्रश्न है, जैनधर्म में इसे वीतरागदेव ( तीर्थंकर ) के प्रति श्रद्धा के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। यद्यपि जैन धर्म को अनीश्वरवादी कहा जाता है और इसी आधार पर कभी-कभी यह भी मान लिया जाता है कि उसमें श्रद्धा या भक्ति का कोई स्थान नहीं है किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है।”<sup>४</sup> ये तीर्थंकर मुक्त जीव हैं। इनमें अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत शक्ति एवं अनंत सुख विद्यमान हैं। इन्होंने राग-द्वेष, जन्म-मरण एवं अन्य सांसारिक वासनाओं पर पूर्ण नियंत्रण कर लिया है। सभी विकारों पर विजय प्राप्त करने के कारण इन्हें “जिन” कहा जाता है।<sup>५</sup> जिन लोग स्वभाव सिद्ध, जन्मसिद्ध, शुद्ध, बुद्ध, भगवान्

१. भारतीय दर्शन—दत्ता और चटर्जी, पृ० २४

२. द्रष्टव्य-पञ्चास्तिकाय समयसार १७६ और आगे

३. उत्तराध्ययन सूत्र १२।४४, १२।४६ तथा १।४०

४. धर्म का मर्म, पृ० २९

५. द्रष्टव्य: भद्रबाहु का कल्पसूत्र और श्रीमती स्टीवेन्सन का दि हर्ट ऑफ जैनिज्म, चतुर्थ अध्याय

नहीं होते वरन् साधारण प्राणियों के समान ही जन्म ग्रहण कर काम-क्रोधादि विकारों पर विजय प्राप्त करके परमात्मा बन जाते हैं, अर्थात् ईश्वरत्व को प्राप्त होते हैं। ऐसे वीतराग सर्वज्ञ, हितोपदेशी ही जिन हैं तथा उनके द्वारा किया गया उपदेश ही जैन धर्म है।<sup>१</sup> इन जिन अथवा तीर्थकरों की शानदार पूजा जैनधर्म में होती है। इनकी मूर्तियाँ प्रत्येक जैनी के लिए श्रद्धा एवं आराधना की विषय हैं। जैन धर्म में विभिन्न तीर्थकरों के गर्भ-प्रवेश, जन्म, दीक्षा, कैवल्य-प्राप्ति एवं निर्वाण-दिवसों को पर्व के रूप में मनाया जाता है।<sup>२</sup> सम्पूर्ण जैनधर्म और दर्शन ऐसे ही चौबीस तीर्थकरों की वाणी या उपदेश का संकलन है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि जैनधर्म में सभी मुक्त जीव तीर्थकर नहीं होते। तीर्थकर जिन अवस्था को प्राप्त करके तीर्थ या संघ की स्थापना करके जैन धर्म का उपदेश करते हैं।<sup>३</sup> इन २४ तीर्थकरों में भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थकर थे। वर्द्धमान या महावीर (ई० पूर्व ६००) चौबीसवें तीर्थकर थे। वर्द्धमान के पूर्व २३वें तीर्थकर पार्श्वनाथ थे।<sup>४</sup>

जैनधर्म में तीर्थकरों को केवल भगवान् रूप में ही स्वीकार नहीं किया गया है बल्कि उनमें तात्त्विक और नैतिक गुणों का भी विधान किया जाता है।<sup>५</sup> तीर्थकर में सर्वज्ञता, अनंतता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण पाये जाते हैं। कहा गया है कि तीर्थकर अनंत शक्ति, अनन्त ज्ञान,

- 
१. जैनधर्म —पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ० ६५
  २. जैन आध्यात्मवाद : आधुनिक संदर्भ में, पृ० १३
  ३. जैनधर्म —पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री पृ० ३४ तथा द्रष्टव्य—स्टडीज इन जैन फिलॉसफी—टाटिया, नथमल (पा० वि० शो० संस्थान, वाराणसी) १९५१, पृ० १२८
  ४. अन्य तीर्थकरों के नाम इस प्रकार है :—अजित, सम्भव, अभिनंदन, सुमति, पद्मप्रभु, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदंत, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व ।
  ५. भारतीय दर्शन—दत्ता और चटर्जी पृ० २३-२४

अनंत दर्शन आदि से युक्त हैं ।<sup>१</sup> अगर हम तीर्थंकर के जीवन की ओर दृष्टिपात करें तो नैतिक गुणों के भी वहाँ दर्शन होते हैं ।<sup>२</sup> समस्त विकारों पर विजय प्राप्त करने वाले रागद्वेषादि से विरत तीर्थंकर शुभत्व की प्रतिमूर्ति हैं । उनमें अच्छाई ही है, बुराई का लेशमात्र नहीं । मनुष्य जिन अच्छे गुणों की कल्पना कर सकता है वे सब तीर्थंकर में विद्यमान हैं ।<sup>३</sup> दयालुता के गुण पर प्रकाश डालते हुए आचारांग सूत्र में कहा गया है :

सव्वे सत्ता ण हंतव्वा

एस धम्मं सुद्धे णिइए सासए

समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए ।

अर्थात् भूतकाल में जो अर्हत् हुए हैं, वर्तमान काल में जो अर्हत् हैं और भविष्य में जो अर्हत् होंगे, वे सभी एक ही सन्देश देते हैं कि किसी प्राणी की, किसी सत्त्व की हिंसा नहीं करनी चाहिए, उनका घात नहीं करना चाहिये, उसे पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिये, यही एकमात्र शुद्ध, नित्य एवं शाश्वत धर्म है ।<sup>४</sup> इसी सन्दर्भ में प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है कि भगवान् ( तीर्थंकर ) का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है ।<sup>५</sup>

तीर्थंकर को उदासीन संत<sup>६</sup> और लोक कल्याणकारी माना गया है ।<sup>७</sup> लोककल्याण की भावना जैन धर्म का प्राण है । इन तीर्थंकरों को आध्यात्मिक गुरु और प्रेरणास्रोत के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है ।<sup>८</sup> हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में इस पर स्पष्ट तौर पर प्रकाश डाला है । वहाँ कहा गया है कि गुरु हमें सत्य के प्रकाशन एवं

१. तत्त्वार्थसूत्र ७।२

२. द्रष्टव्य—कल्पसूत्र १६ तथा तत्त्वार्थसूत्र ६।२३

३. स्टडीज इन जैनिज्म, पृ० २६८

४. उद्धृत—धर्म का मर्म पृ० १७

५. प्रश्नव्याकरणसूत्र २।१।२

६. नियमसार ७७-८१ तथा उत्तराध्ययन सूत्र ३२।१०१

७. कल्पसूत्र १६

८. ज्ञानार्णव ( शुभचन्द्र ) ३७।४०

साध्य की प्राप्ति में सहायक होता है।<sup>१</sup> शुभचन्द्र ने चार प्रकार के ध्यानों का वर्णन किया है—पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान।<sup>२</sup> उन्होंने यह स्वीकार किया है कि रूपस्थ ध्यान में तीर्थंकर के विभूतिमय स्वरूप का ध्यान योगी को करना चाहिए। इससे उसे साधना में अग्रसारित होने की प्रेरणा मिलती है और योगी सिद्धावस्था को प्राप्त करने लायक हो जाता है।<sup>३</sup> “जिस प्रकार समुद्र में भटकते हुए जहाज के लिए स्वयं कुछ न करके भी प्रकाश स्तंभ एक त्राणदाता होता है, उसी प्रकार दुःख के सागर में उतराते हम पामर प्राणियों के लिए वीतराग प्रभु कुछ नहीं करता हुआ भी त्राणदाता होता है। वह एक प्रकाश स्तम्भ है, मार्गदर्शक है, आदर्श है जिसके आलोक में हम अपनी यात्रा कर सकते हैं।”<sup>४</sup>

तीर्थंकर की स्तुति हमारी प्रसुप्त अन्तःचेतना को जागृत करती है और हमारे सामने साधना के आदर्श का एक जीवंत चित्र उपस्थित करती है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि स्तवन से व्यक्ति की दर्शन विशुद्धि होती है, उसका दृष्टिकोण सम्यक् बनता है और परिणामस्वरूप वह आध्यात्मिक विकास की दिशा में आगे बढ़ सकता है।<sup>५</sup> भगवद्भक्ति से पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है। आवश्यक-निर्युक्ति में जैनाचार्य भद्रबाहु ने इस बात को स्पष्टरूप से स्वीकार किया है कि भगवान् के नाम स्मरण मात्र से पाप क्षीण हो जाते हैं।<sup>६</sup>

उपयुक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करते हुए भी तीर्थंकरों को ईश्वर के रूप में स्थापित करते हैं। यहाँ नास्तिकता में आस्तिकता का दर्शन होता है। तीर्थंकर ईश्वर रूप हैं लेकिन सृष्टिकर्ता नहीं। मानव जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य (कैवल्य-प्राप्ति) की प्राप्ति में साक्षात् कारण नहीं बनते।

१. योगशास्त्र १३-१७

२. ज्ञानार्णव ७।१०

३. वही ३७-५०

४. धर्म का मर्म, पृ० ३१

५. वही, पृ० ३२

६. उद्धृत वही, पृ० ३२

योग दर्शन में भी ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। योग सांख्य का व्यावहारिक पक्ष है और सांख्य योग का सैद्धान्तिक पक्ष। योग सांख्य द्वारा प्रतिपादित तत्त्व-मीमांसा, ज्ञान-मीमांसा आदि को मानकर चलता है। गीता में इन दोनों को एक ही माना गया है। एक ही मत के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष होने के कारण दोनों एक ही हैं।<sup>१</sup> योग ईश्वर में विश्वास करता है इसीलिए इसे सेश्वर सांख्य भी कहा गया है।<sup>२</sup> सनातन सांख्य निरीश्वरवादी है।

योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि की दृष्टि में ईश्वर का उतना सैद्धान्तिक मूल्य नहीं है जितना व्यावहारिक। जगत् से संबंधित समस्याओं के निराकरण हेतु वे ईश्वर की आवश्यकता महसूस नहीं करते क्योंकि जगत् विकास का परिणाम है।<sup>३</sup> अव्यक्त प्रकृति समस्त कार्यों का कारण है। पतंजलि का कहना है कि ईश्वर प्रणिधान भी समाधि का एक साधन है जिसके द्वारा मुक्ति मिल सकती है। इसकी उपयोगिता चित्त की एकाग्रता में है और ध्यान के साधनों में एक यह भी है। अष्टांग योग<sup>४</sup> का दूसरा अंग नियम या सदाचार का पालन है। इसके निम्नलिखित अंग हैं—(अ) शौच, (आ) संतोष, (इ) तप, (ई) स्वाध्याय, (उ) ईश्वर प्रणिधान।<sup>५</sup> ईश्वर प्रणिधान से तात्पर्य ईश्वर का ध्यान एवं उन पर अपने को छोड़ देना है।

कालान्तर में (बाद के) योग दार्शनिकों ने सैद्धान्तिक रूप से ईश्वर के स्वरूप की विवेचना की और ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रमाण भी दिया। इस तरह योग दर्शन के ग्रंथों में ईश्वरसंबन्धी<sup>६</sup> विचार भी मिलते हैं।

१. ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलासफी—चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास १९७६, पृ० १६९
२. वही
३. भारतीय दर्शन—दत्ता और चटर्जी पृ० १९५-१९६
४. द्रष्टव्य योग सूत्र और भाष्य २।२६-५५ तथा ३।१-४
५. शौचसंतोष तप : स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः



योग दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के जो प्रमाण दिए गये हैं उनका विवरण इस प्रकार है :—

(अ) वेदादि के आधार पर—वेद, उपनिषद् आदि सभी शास्त्र ईश्वर को परम सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार शास्त्र सम्मत होने के कारण ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

(ब) अनवरतता के सिद्धान्त के आधार पर—अनवरतता के अनुसार यह स्वीकार किया जाता है कि जिस वस्तु की न्यूनाधिक मात्रा होती है उसकी एक अल्पतम और अधिकतम सीमा भी होती है। अल्पतम परिणाम अणु है और अधिकतम आकाश। ठीक इसी तरह ज्ञान एवं भक्ति के संदर्भ में भी सोचना चाहिए उपर्युक्त की भिन्न-भिन्न मात्राएँ देख पड़ती हैं। उनकी भी एक सीमा होनी चाहिए। अवश्य ही एक ऐसा पुरुष होना चाहिए जो सर्वाधिक ज्ञान एवं भक्ति रखने वाला हो। यह पुरुष ईश्वर है।

(स) प्रकृति एवं पुरुष के संयोग एवं वियोग ( विच्छेद ) की कारकता के आधार पर—प्रकृति एवं पुरुष दोनों भिन्न-भिन्न एवं परस्पर विरोधी स्वभाव वाले तत्त्व हैं। प्रकृति जड़ है तो पुरुष चेतन। प्रकृति सक्रिय है तो पुरुष निष्क्रिय। इन दोनों के संयोग से ही विश्व का विकास होता है और दोनों के विच्छेद से विश्व का प्रलय होता है। अब समस्या है कि अगर एक तीसरे निमित्तकारण के अस्तित्व को स्वीकार न किया जाय तो उपर्युक्त के संदर्भ में संयोग एवं विच्छेद की प्रक्रिया संभव नहीं हो पायेगी। यही निमित्त कारण ईश्वर है जिसकी प्रेरणा के बिना प्रकृति जगत् का उस रूप में विकास नहीं कर सकती है जो जीवों के अभ्युदय एवं निःश्रेयस के लिए अनुकूल हो।

(द) ईश्वर की भक्ति के आधार पर—ईश्वर की भक्ति ( ईश्वर प्रणिधान ) समाधि के लिये निश्चित एवं सर्वोत्कृष्ट साधन है। ईश्वर केवल ध्यान का विषय ही नहीं बल्कि वह पूर्ण महाप्रभु है जो अपनी कृपा से उपासकों के पाप एवं दोष दूरकर उनके लिये समाधि का मार्ग प्रशस्त कर देता है। ईश्वर भक्ति एवं ईश्वर कृपा योग सिद्धि के लिये अनुकूल मार्ग बना देती है। ईश्वर की अनुकम्पा से ही कैवल्य की प्राप्ति संभव है।

योग दर्शन में ईश्वर के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है । महर्षि पंतजलि ने ईश्वर की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'ईश्वर अविद्यादि क्लेश पापपुण्य कर्म, उन कर्मों के फल एवं वासनाओं से रहित पुरुष विशेष है । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पाँच क्लेश माने गये हैं । अविद्या को क्लेशों की प्रसव भूमि या मूल कारण माना गया है । कुशल और अकुशल, शुभ और अशुभ, पुण्य एवं पापरूप कर्म कहे जाते हैं । पुण्य और पाप के फल जाति आयु योग रूप विपाक माने गये हैं । सुख-दुःख आदि भोगों से उत्पन्न नाना प्रकार की वासना आस्रव कहलाती है । इस प्रकार उक्त क्लेश, कर्म विपाक और आस्रव से जो असम्बद्ध ( अपराभ्रष्ट ) है वही पुरुष विशेष ईश्वर है ।

पुरुष विशेष की एक दूसरी व्याख्या भी दी गई है । ईश्वर सभी प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त है । अणिमादि सभी ऐश्वर्य ईश्वर के समान अथवा ईश्वर से अधिक किसी में नहीं हैं । इस प्रकार बद्ध, मुक्त, प्रकृतिलीन आदि सभी जीवों की अपेक्षा ईश्वर पुरुषविशेष है ।

पुरुष विशेष ईश्वर ही ज्ञान की पराकाष्ठा है तथा सर्वज्ञता का बीजस्वरूप है । योग दर्शन में ईश्वर को गुरु या उपदेष्टा के रूप में चित्रित किया गया है । सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न ब्रह्मादि देवों तथा अंगिरादि ऋषियों के भी गुरु या उपदेष्टारूप में वही ईश्वर स्थित है । वह नित्ययुक्त है । न वह कभी बन्धन में था और न आगे ही सम्भावना है । वह कर्म सिद्धान्त से परे है । ससार के सभी जीव अविद्यादि अहंकार, वासना, राग-द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय) आदि के कारण दुःख पाते हैं । वे भिन्न-भिन्न कर्म ( सुकर्म, कुकर्म, विकर्म ) करते हैं और उनके विपाक स्वरूप सुख-दुःख भोग करते हैं । वे पूर्व जन्म के संस्कार (आशय) से भी प्रभावित होते हैं । कैवल्य की प्राप्ति करने पर भी मुक्तात्मा को नित्यमुक्त नहीं कह सकते क्योंकि कैवल्यप्राप्ति के पूर्व वह बंधन में था । वह सर्वशक्तिशाली एवं सर्वव्यापी है । वह नित्य पूर्ण है । ओम् या प्रणव ईश्वर का वाचक है । ईश्वर की कृपा ओम् शब्द से होती है । अतः योगी को प्रणव का उच्चारण रूप जप तथा ओम् के अर्थस्वरूप ईश्वर की भावना करनी चाहिए । ईश्वर का जप तथा ईश्वर की भावना करने से योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है ।

ईश्वर सदा एकरस और निर्विकार है। वह अनंत एवं अद्वितीय है। इच्छामात्र से वह समस्त जगत् का परिचालन कर सकता है। वह केवल सदिच्छाओं से पूर्ण है।

### III

जैन एवं योग दर्शन में वर्णित ईश्वरत्व की अवधारणा का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों में काफी समानता है। वैसे जैन दर्शन वेद विरोधी होने से नास्तिक दर्शन की कोटि में गिना जाता है और योगदर्शन आस्तिक दर्शनों ( वेद में विश्वास करने वाले ) की श्रेणी में आता है अतः दोनों में विभिन्नता भी स्वाभाविक है। इनके बीच स्थित समानताओं एवं विभिन्नताओं का वर्णन इस प्रकार है :—

**जैन और योग दर्शन में वर्णित ईश्वर विचार की समानताएँ :**

१. दोनों मतों में ईश्वर को स्रष्टा, नहीं माना गया है।
२. ईश्वर पूर्ण, अनंत, सर्वशक्तिशाली एवं सर्वव्यापक है, ऐसा दोनों ही मानते हैं।
३. ईश्वर ज्ञान की पराकाष्ठा है, वह सर्वज्ञ है।
४. वह आदर्श गुरु है जो साधक को साध्य की प्राप्ति में सहायक होता है।
५. वह वीतराग है। क्लेश व राग-द्वेष से ऊपर है, ऐसा दोनों मानते हैं।
६. वह न तो जीवों को बंधन में डालता है और न उन्हें युक्त करता है। अज्ञान बन्धन का कारण है और ज्ञान ही मोक्ष है ऐसा दोनों स्वीकार करते हैं।
७. दोनों सैद्धान्तिक रूप से नहीं बल्कि व्यावहारिक रूप से ईश्वर की आवश्यकता स्वीकार करते हैं।
८. दोनों मतों में ईश्वर को ध्यान का विषय स्वीकार किया गया है।
९. दोनों में ईश्वर के तात्त्विक एवं नैतिक गुणों का विधान किया गया है।

### दोनों में अन्तर—

- १—जैन दर्शन में तीर्थंकरों को ईश्वर रूप में स्वीकार किया गया है । ईश्वर पहले मनुष्यों की तरह बद्ध है और मुक्त होकर ईश्वरत्व प्राप्त कर लेता है । योग दर्शन में ईश्वर को नित्यमुक्त कहा गया है । वह कभी बंधन में पड़ा ही नहीं जिससे मुक्ति का प्रश्न उठे ।
- २—जैनियों के अनुसार पूर्णता की प्राप्ति कैवल्यावस्था में होती है जबकि योग के अनुसार ईश्वर नित्यपूर्ण है, वह नित्य शुद्ध और बुद्ध है ।
- ३—स्रष्टा और पालनकर्त्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता का खण्डन जैन धर्म करता है । उसके अस्तित्व के लिए दिए गए परम्परागत तर्कों का भी खण्डन वहाँ मिलता है । दूसरी तरफ योग दर्शन में हम देखते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए प्रमाण दिये गये हैं । इन प्रमाणों के आधार पर ईश्वर की सिद्धि होती है ।
- ४—जैन धर्म में ईश्वर कृपा के लिए कोई स्थान नहीं है । मनुष्य साधना द्वारा अपने प्रयत्न से ही परमात्म तत्त्व की प्राप्ति करता है, ईश्वर कृपा से नहीं । योगदर्शन में समाधिलाभ को ही परमात्मलाभ तथा समाधिफल को कैवल्य प्राप्ति माना गया है । परन्तु साथ ही साथ यह भी बतलाया गया है कि ईश्वर के अनुग्रह (कृपा) से ही शीघ्र समाधिलाभ हो सकता है तथा ईश्वर की अनुकम्पा से ही कैवल्य की प्राप्ति संभव है ।
- ५—जैन दर्शन नास्तिक होने के कारण वेद को प्रमाण नहीं मानता और न तदनु रूप ईश्वर विचार की व्याख्या करता है, जबकि योगदर्शन आस्तिक दर्शनों की कोटि में आता है और वेद को प्रमाण मानकर ईश्वर की अवधारणा की व्याख्या करता है । यह वेदों के आधार पर ही ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करता है । उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि जैन एवं योग दर्शन में वर्णित ईश्वर विचार तत्संबंधित दार्शनिक मान्यताओं से प्रभावित है । वैसे दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि ईश्वर जगत् का स्रष्टा और पालनकर्त्ता नहीं है जैसा कि ईश्वरवादी विचारधारा में स्वीकार किया गया है । जैन दर्शन द्रव्यों से जगत् की सृष्टि मानता

है तो योग दर्शन जगत् को विकास का परिणाम मानता है। दोनों मतों में परम्परागत तरीके से हटकर ईश्वर विचार की व्याख्या की गई है। जैनधर्म मानवतावादी धर्म है अतः वह मनुष्य को केन्द्र में स्थापित करके मानव को ही ईश्वरत्व प्रदान करता है। लेकिन एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि सभी मुक्त पुरुषों ( अर्हत् ) को वह तीर्थंकर स्वीकार नहीं करता। जैन अनुश्रुतियों में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य तीर्थंकरों के संदर्भ में मिलता है। जैन परम्परा के अनुसार इस दृश्यमान जगत् में काल का चक्र सदा घूमता रहता है। यद्यपि काल का चक्र अनादि और अनंत है तथापि उसके छः विभाग हैं (क) अति-सुखरूप, (ख) सुखरूप, (घ) सुखदुःखरूप, (ङ) दुःखसुख रूप (इ) दुःख-रूप, (च) अतिदुःखरूप। जगत् गाड़ी के चक्के के समान सदा घूमा करता है। दुःख से सुख की ओर तथा सुख से दुःख की ओर ले जाने को अवसर्पिणी काल या अवनतिकाल कहते हैं और दुःख से सुख की ओर ले जाने को उत्सर्पिणी काल या विकास काल कहते हैं। इन दोनों के बीच की अवधि लाखों करोड़ों वर्ष से भी अधिक है। प्रत्येक अव-सर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के दुःख सुख रूप भाग में चौबीस तीर्थ-ङ्करों का जन्म होता है जो जिन अवस्था को प्राप्त करके तीर्थ या संघ बनाकर जैन धर्म का उपदेश करते हैं। योगदर्शन वेदसम्मत नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव ईश्वर की कल्पना करता है।



अध्यक्ष दर्शन विभाग  
मु० म० टा० स्नाकोत्तर  
महाविद्यालय बलिया (उ० प्र०)



# जैन आगम साहित्य में वर्णित दास-प्रथा

—डॉ० इन्द्रेश चन्द्र सिंह

प्राचीन भारत में दास-प्रथा प्रागैतिहासिक काल से ही प्रचलित मानी जाती है।<sup>१</sup> यद्यपि कतिपय विदेशी इतिहासकारों ने भारत यात्रा के दौरान यहाँ जो कुछ देखा, उसके आधार पर भारत में दास-प्रथा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया, इसका प्रमुख कारण यह था कि भारत में दास-प्रथा समकालीन सभ्य देशों जैसे—रोम, यूनान और अमेरिका आदि की भाँति नहीं थी। उक्त सभ्य देशों में दासों के साथ क्रूरतम व्यवहार किया जाता था। इसके विपरीत भारत में दास एवं दासियाँ परिवार के सदस्यों के साथ रहते थे तथा परिवार के अंग समझे जाते थे। जैनागम आचारांग-सूत्र में गृहपति, उसकी पत्नी, बहन, पुत्र, पुत्री एवं पुत्रवधू के साथ दास-दासी तथा नौकरों (सेवकों) को भी पारिवारिक सदस्यों के अन्तर्गत ही वर्णित किया गया है।<sup>२</sup> पश्चिमी सभ्य कहे जाने वाले देशों में दासों की स्थिति से भारतीय दासों की उत्कृष्टता को प्रमाणित करने के लिए भारतीय राजाओं द्वारा इन्हें 'देवानुप्रिय' जैसे शब्द का सम्बोधन पर्याप्त होगा।<sup>३</sup> सामान्यतया दास परिवार में रहते हुए समस्त आन्तरिक एवं बाह्य कार्यों में अपने स्वामी का सहयोग करते थे।<sup>४</sup>

**दासों की स्थिति**—जैनाचार्यों ने दासों की गणना दस बाह्य परिग्रहों में करते हुए श्रमणों के लिए इनका प्रयोग निषिद्ध बताया है। इसके विपरीत गृहस्थों के लिए इन्हें सुख का कारण बताया गया

१. स्लेवरी इन ऐशियेण्ट इण्डिया—डी० आर० चनन, दिल्ली पृ० १५-१८ सन् १९६०

२. आचारांगसूत्र, २।१।३३७, पृ० २५

३. ज्ञाताधर्मकथासूत्र १।१।२६; राजप्रश्नीयसूत्र, विवेचन पृ० १७

४. ज्ञाताधर्मकथासूत्र, १।३।१६

है तथा इनकी गणना भोग्य वस्तुओं के साथ की गई है।<sup>१</sup> जैनागम काल में राजा एवं कुलीन व्यक्ति ही दासों के स्वामी नहीं होते थे अपितु धनसम्पन्न गाथापति एवं गृहस्थ भी अपने यहाँ दासों को नियुक्त कर उनसे सहयोग प्राप्त करते थे।<sup>२</sup> सामान्यतया सेवावृत्ति ही दासों का प्रधान धर्म था। अतः उनकी स्थिति को शोचनीय मानते हुए वर्णित है कि महावीर के उपदेश में जिस प्रकार पापदृष्टि वाला कुशिष्य हितानुशासन से शासित होने पर अपने को हीन समझता है, उसी प्रकार दास को भी हीन समझा जाता था।<sup>३</sup> दासों के ऊपर दासपतियों को पूर्ण आधिपत्य प्राप्त था। अतः विवाह आदि अवसरों पर विविध वस्त्राभूषणों के साथ प्रीतिदान के अन्तर्गत इन्हें भी सम्मिलित कर लिया जाता था।<sup>४</sup> इस प्रकार प्रीतिदान अथवा भेंट के रूप में दिये जाने पर दासों को श्वसुर पक्ष के अन्य सदस्यों के साथ गिना जाता था।<sup>५</sup>

**दासता के कारण**—जैन आगम साहित्य में दास विषयक उल्लेखों के आधार पर दासों के प्रकार अथवा दासवृत्ति अपनाने के पीछे कार्य-रत कुछ प्रमुख हेतुओं को विवेचित किया जा सकता है। स्थानांग-सूत्र<sup>६</sup> में छः प्रकार के दासों का उल्लेख किया गया है। इसमें जन्म से ही दासवृत्ति स्वीकार करने वाले, क्रीत ( खरीदे ) किये हुए दास, ऋणग्रस्तता से बने हुए दास, दुर्भिक्षग्रस्त होने पर, जुमनि आदि को चुकता न करने पर तथा कर्ज न अदा करने के कारण बने दास उल्लेखनीय हैं।

**जन्मदास**—दास एवं दासी के साथ उसकी सन्तति पर भी दास-पति के अधिकारों का प्रमाण मिलता है। अतः यह कहा जा सकता:

१. उत्तराध्ययन सूत्र ३।१७; प्रश्नव्याकरण सूत्र अ० २ पृ० १६०
२. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र २।१।१०
३. उत्तराध्ययन सूत्र, १।३९
४. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र, १।१६।१२८
५. आचारांग सूत्र, २।१।३५०
६. स्थानांग सूत्र, ४।१९१-अ तथा देखिए—जे० सी० जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १५७ (चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी १९६५)



है कि दासियों द्वारा पुत्र-प्रसव के उपरान्त उस पर स्वामी का स्वतः अधिकार स्थापित हो जाता था। स्वामी की देख-रेख में बाल्यावस्था से ही इनका पालन-पोषण किया जाता था।<sup>१</sup> प्रारम्भिक अवस्था में ये स्वामी-पुत्रों का मनोरंजन करते तथा उन्हें क्रीड़ा कराते थे। कभी-कभी अपने स्वामी को भोजन आदि भी पहुँचाते थे<sup>२</sup> तथा बड़े होने पर अन्य गुस्तर कार्यों को सम्पादित करते थे।

**क्रीतदास**—जैनागमों में कुछ ऐसे भी विवरण मिलते हैं जहाँ राज-पुरुषों द्वारा अपने कार्यों में सहयोग हेतु विविध देशों से लाये गये दास-दासियों को नियुक्त किया गया था। इनमें दासों ( पुरुषों ) की अपेक्षा दासियों का उल्लेख अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। विदेशी दासियों में चिलातिका (चिलात—किरात देशोत्पन्न) वर्वरी ( वर्वरदेशोत्पन्न ), वकुश देश की तथा योनक, पल्हविक, ईसनिक, लकुस, द्रविण, सिंहल, अरब, पुलिद, पक्कड़, बहल, भुंरंड, शबर, पारस आदि का नामोल्लेख हुआ है।<sup>३</sup> ये दासियाँ अपने-अपने देश के वेश धारण करने वाली, इंगित, चितित, प्रार्थित आदि में निपुण, कुशल एवं प्रशिक्षित होती थीं। इन तरुण दासियों को वर्षधरों ( नपुंसकों ) कंचुकियों एवं महत्तरकों ( अन्तःपुर के कार्य की चिन्ता रखने वालों ) के साथ राजपुत्रों के लालन-पालन हेतु नियुक्त किया जाता था।<sup>४</sup> विदेश से मँगवाई गयी दासियों का विवरण उस समय समाज में दासों के क्रय-विक्रय का संकेत प्रस्तुत करता है, जिसकी पुष्टि केश-वाणिज्य के अन्तर्गत दास-दासियों की खरीद-फरोख्त ( पशुओं के समान ) किये जाने से होती है।

**युद्धदास**—युद्ध में विजयी पक्ष, पराजित राज्य की विविध धन-सम्पदा के साथ-साथ मनुष्यों को भी बन्दी बना लेता था। इनमें से कुछ अतिविशिष्ट स्त्रियों को तो धन-सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा पत्नी के

१. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र, १।२।४३

२. वही, १।२।३३

३. अन्तकृद्दशांगसूत्र ३।२; राजप्रश्नीय सूत्र २८१

४. वही

५. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र २।८।५; उत्तराध्ययन ८।१८

रूप में ग्रहण कर लिया जाता था । जबकि शेष पुरुषों एवं स्त्रियों को दासवृत्ति स्वीकार करने के लिए संत्रस्त किया जाता था ।<sup>१</sup> सम्भवतः अपने उपयोग से अधिक संख्या होने पर इन्हें उपहार या पारिश्रमिक के रूप में भी दिया जाता था ।<sup>२</sup>

**दुर्भिक्षदास एवं ऋणदास**—दुर्भिक्ष के समय उदरपूर्ति एवं अन्य आवश्यकता हेतु लिए गये ऋणों की समय पर अदायगी न किये जाने से ऋणी को ऋणदाता की अल्पकालिक अथवा जीवनपर्यंत दासता स्वीकार करनी पड़ती थी<sup>३</sup> । उस समय वणिक अथवा गाथापति लोगों को आवश्यकतानुरूप कर्ज वितरित करते थे । परिस्थितवश यदि निर्धारित अवधि में ऋण लेने वाला व्यक्ति उसका सम्यक् भुगतान करने में असमर्थ रहता था तो उससे कहा जाता था कि या तो तुम कर्ज चुकाओ, अन्यथा गुलामी करो<sup>४</sup> ।

**धात्रियाँ**—दास तथा दासियों के अतिरिक्त उस समय प्रायः सम्पन्न परिवारों में नवजात शिशुओं के पालन, संरक्षण, संवर्द्धन एवं विकास हेतु दाइयों की नियुक्ति की जाती थी । जैन सूत्रों में, राजपरिवार में विविध देशों से लायी गयी दासियों को उनके कार्यानुसार पाँच कोटियों में विभक्त किया गया है—(१) क्षीरधात्री, (२) मंडनधात्री, (३) भज्जन-धात्री, (४) अंबधात्री एवं (५) क्रीडापनधात्री । ये दाइयाँ बच्चे को दूध पिलाने, वस्त्रालंकारों से सज्जित करने, स्नान कराने, गोंद में लेकर बच्चे को खिलाने तथा क्रीडा आदि कराने में संलग्न रहती थीं<sup>५</sup> । दाइयों की स्थिति दासियों की अपेक्षा श्रेष्ठ थी । इसका कारण यह था कि दाइयों का स्वामीपुत्रों अथवा पुत्रियों से न केवल तब तक सम्बन्ध रहता था, जबतक वे नादान रहते थे बल्कि वे उनका उचित मार्गदर्शन वयस्क हो जाने पर भी करती थीं<sup>६</sup> । राजपुत्रों के प्रव्रजित होते

१. अन्तकृद्दशा ३।३

२. पिण्डनिर्युक्ति ३१७-१९; व्यवहारभाष्य, ४।२, २०६-७

३. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १५७-१५९

४. ज्ञाताधर्मकथासूत्र १।१।९६; अन्तकृद्दशा ३।२

५. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र १।१।९६

६. वही १।१।१४६

समय माता के साथ दाइयों के भी जाने का उल्लेख मिलता है। दाई (अम्माधाई) राजपुत्र के वामपार्श्व में रथारूढ होती थी<sup>१</sup>।

**दासों के कार्य**—जैनागम ग्रन्थों में परिवार में रहते हुए घर के काम-काज में तत्पर दासों का विवरण मिलता है। घर के आन्तरिक कार्यों में इनसे अत्यधिक सहयोग प्राप्त किया जाता था। दास तथा दासियाँ परिवार में प्रायः राख तथा गोबर आदि फेंकने, सफाई करने, साफ किये गये स्थल पर पानी छिड़कने, पैर धुलाने, स्नान कराने, अनाज कूटने, पीसने, झाड़ने और दलने तथा भोजन बनाने में अपने स्वामी अथवा स्वामिनी का सहयोग करते थे<sup>२</sup>। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि दास एवं दासियों के अतिरिक्त उनकी सन्तति पर भी दासपतियों का प्रायः आधिपत्य रहता था। दास-चेट अपने मालिक के बच्चों का मनोरंजन तथा क्रीडादि कराते थे एवं स्वामी को भोजन आदि पहुँचाते थे<sup>३</sup>। दासचेटियाँ अपने स्वामिनी के साथ पूजा-सामग्री लेकर मन्दिरों में जाती थीं<sup>४</sup>। दासों की नियुक्ति कभी-कभी अंगरक्षकों के रूप में भी होती थी तथा सेवाशुश्रूषा करने के लिए दासियों की नियुक्ति अंगपरिचारिका के रूप में होती थी। इस प्रकार की दासी को आभ्यन्तर दासी कहा जाता था। ये अपनी मालकिन के चिन्तित होने पर उसका कारण खोजतीं, तत्पश्चात् स्वामी से उसका निवेदन कर निराकरण हेतु प्रार्थना करती थीं<sup>५</sup>। दास-दासियाँ कभी-कभी सन्देश-वाहक अथवा दूत के रूप में भी प्रयुक्त किये जाते थे और अपने स्वामी के गोपनीय कार्यों का भी सम्पादन करते थे। अतः इन्हें प्रेष्य कहा जाता था<sup>६</sup>।

**दास-दासियों के विशिष्ट कार्य**—कतिपय दासियाँ राजकन्याओं के साथ स्वयंवर में भी जाती थीं। उनमें से कुछ दासियाँ लिखने का कार्य करती थीं तथा कुछेक दर्पण लेकर उपस्थित जनसमूह के प्रतिबिम्ब को

१. ज्ञाताधर्मकथासूत्र १।७।२०
२. वही १।२।२२
३. वही १।८।४५
४. अन्तकृद्दशा सूत्र ३।२-६; ज्ञाताधर्मकथा १।१।४९
५. ज्ञाताधर्मकथा १।२।४३
६. वही १।१६।१२२

दिखलाकर तत्सम्बन्धी गुण-दोषों का बखान करती थी<sup>१</sup> । इसके अतिरिक्त उस काल में रूप एवं सौन्दर्य-सम्पन्न दासियों (तरुणी दासी) की उपस्थिति स्वामी पुत्रों के अति निकट रहती थी<sup>२</sup> ।

**दासों का जीवन**—भगवान् महावीर के अहिंसा महाव्रत के समर्थक एवं बहुसंख्यक सहृदय दासपति, दासों को अपने पारिवारिक सदस्यों के साथ नियुक्त कर उनका सम्यक् पालन-पोषण कर उदारता का प्रदर्शन करते थे तथा उन्हें 'देवानुप्रिय' जैसे शब्दों से सम्बोधित भी करते थे । उपासकदशांगसूत्र में अहिंसाव्रत के अतिचारों के अन्तर्गत दासों को बाँधने, जान से मारने, बहुत अधिक बोझ लादने तथा अत्यधिक श्रम लेने जैसे अनाचारों को भी सम्मिलित किया गया है<sup>३</sup> लेकिन कभी-कभी दासों द्वारा विवेकहीन कर्मों का निष्पादन करने पर स्वामी द्वारा उन्हें प्रताड़ित भी किया जाता था<sup>४</sup> । कतिपय क्रूर दासपतियों द्वारा दासों को अकारण ही प्रताड़ित किया जाता था तथा उनको सामर्थ्य से परे कार्यों में लगाकर पीड़ा पहुँचाई जाती थी<sup>५</sup> । जनसामान्य अपनी आवश्यकतानुसार परिवार में दासों की नियुक्ति करते थे तथा उनके भरण-पोषण का ध्यान भी रखते थे । इन सबके बावजूद दासों की गणना भोग्य वस्तुओं<sup>६</sup> में करके उनकी स्वतंत्रता को बाधित कर दिया जाता था । जैनागमों के काल में दास-दासियों का क्रय-विक्रय, उपहार एवं पारिश्रमिक के रूप में दिया जाना तथा उन्हें प्रताड़ित करना एवं जीवनपर्यन्त पराधीनता आदि तथ्य उनकी शोचनीय सामाजिक-आर्थिक स्थिति की ओर बरबस ध्यान आकृष्ट कराते हैं ।

**दासता से मुक्ति**—जैन ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जहाँ दासों द्वारा दिये गये शुभसन्देश से खुश होकर दासपति उन्हें

१. ज्ञाताधर्मकथासूत्र १।१।१४७-४८ तथा देखिए बुद्धकालीन समाज और धर्म पृ० ३१-३२ ( बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना )
२. उपासकदशा सूत्र अ० १, सू० ४५
३. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र १।१।८।८
४. आवश्यकचूर्णि पृ० ३३२; जैनागम में भारतीय समाज; पृ० १६५
५. अन्तकृदशा सूत्र ३।२-६
६. वही ८।१५

दासवृत्ति से मुक्ति प्रदान कर देते थे । ऐसी स्थिति में दास-दासियों का मधुर वचनों से तथा विपुल पुष्पों, गंधों, मालाओं और आभूषणों से सत्कार-सम्मान करके उनकी इस तरह की आजीविका-व्यवस्था कर दी जाती थी जो उनके पुत्र-पौत्रादि तक चलती रहे<sup>१</sup> । दासों को मुक्त करते समय उनका मस्तकधोत<sup>२</sup> (मस्तक धोना) करना दासता से मुक्ति का प्राथमिक एवं महत्त्वपूर्ण लक्षण माना जाता था । इसके अतिरिक्त वह व्यक्ति जो दुर्भिक्ष अथवा अन्य अवसर पर महाजनों से ऋण लेता था तथा समय पर ऋण न देने पर दासत्व स्वीकार करता था । ऐसी स्थिति में उस ऋणी व्यक्ति द्वारा साहूकार का कर्ज चुकता कर देने पर दासपन से मुक्ति सम्भव थी ।<sup>३</sup> सामान्यतया दासों को जीवनपर्यन्त स्वतन्त्र होने का अधिकार एवं अवसर बहुत कम था । सामान्यतः दासपति अपने यहाँ नियुक्त दासों का पालन-पोषण पारिवारिक सदस्य की तरह करते थे ।

—शोध सहायक  
पा० वि० शोध संस्थान

१. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र १।१।८९

२. व्यवहारभाष्य ४।२, २०६-७

३. देखिए, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १५८-५९



# जैनाचार्य राजशेखर सूरिः व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डा० अशोक कुमार सिंह

संस्कृत वाङ्मय में राजशेखर नाम के तीन विद्वान् हुये हैं—प्रथम राजशेखर यायावर (९वीं-१०वीं शती) द्वितीय राजशेखर सूरि (१३वीं-१४वीं शती) और तृतीय राजशेखर कुल्लूर (१८वीं शती) ।

राजशेखर यायावर कान्यकुब्ज के प्रतीहारवंशीयनरेन्द्र महेन्द्रपाल के उपाध्याय थे । अपनी रचना 'बालरामायण' की प्रस्तावना में इन्होंने स्वयं को 'उपाध्यायो यायावरीयराजशेखरः'<sup>१</sup> कहा है । इनकी माता का नाम शीलवती तथा पिता का नाम दुहिक या दुर्दुक था, जो महामन्त्री थे । इनका समय ई० सन् ८८० से ९२० के मध्य माना जाता है ।<sup>२</sup> मधुसूदन मिश्र ने भी यही समय स्वीकार किया है । वे इन्हें वाक्पतिराज के पश्चात् और सोमदेव के पूर्व उत्पन्न हुआ मानते हैं<sup>३</sup> । मैक्समूलर ने राजशेखर यायावर और राजशेखर सूरि को एक मानकर कर्पूरमंजरीकार यायावर का समय १४वीं शताब्दी ई० माना है जो तथ्य से परे है ।<sup>४</sup>

राजशेखर काव्यमीमांसा, कर्पूरमंजरी, विद्धशालभंजिका, बाल-भारत, बालरामायण, भुवनकोश, हरविलास आदि कृतियों के कर्ता माने जाते हैं । यद्यपि हरविलास और भुवनकोश आज उपलब्ध नहीं हैं परन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में इन ग्रन्थों का उल्लेख

१. मिश्र, मधुसूदन—काव्यमीमांसा, पृ० १४, चौखम्भा संस्कृत सिरीज बनारस १९३८ ।

२. विश्वकोश, खण्ड-१०, पृ० ७७

३. मिश्र, मधुसूदन—काव्यमीमांसा, पृ० १५

४. ओझा, हीराचन्द्रः कवि राजशेखर का समय, नामरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ६ पृ० ३६२

किया है<sup>१</sup>। 'कैटलागस कैटलागरम्' में 'बालभारत' को 'प्रचण्डपाण्डव' कहा गया है। यहाँ राजशेखर कृत चार नाटकों, 'कर्पूरमंजरी', 'बालभारत', 'बालरामायण' और 'विद्धशालभंजिका' का विवरण मिलता है<sup>२</sup>।

यद्यपि द्वितीय राजशेखर सूरि की पहचान असंदिग्ध है फिर भी आधुनिक विद्वानों के कुछ उल्लेखों से इनके सम्बन्ध में भ्रामक सूचनायें मिलती हैं। उदाहरणस्वरूप थियोडोर आफ्रोच्ट ने 'कैटलागस कैटलागरम्' में राजशेखर सूरि और राजशेखर मलधारि—दो कवियों का उल्लेख किया है। राजशेखर सूरि को आचार्य तिलक सूरि का शिष्य कहा गया है, न्यायकंदलीपंजिका इनकी रचना के रूप में वर्णित है। मलधारि राजशेखर मुनि सुधाकलश के गुरु के रूप में वर्णित है, इनकी कृति प्रबन्धकोश है<sup>३</sup>। वस्तुतः राजशेखर सूरि और राजशेखर मलधारि एक ही व्यक्ति हैं। राजशेखर सूरि मलधारि गच्छ के थे अतः इनको मलधारि राजशेखर कहा जाता था। इसी प्रकार अंचलगच्छीय जयशेखर सूरि एवं मलधारि राजशेखर सूरि को कहीं-कहीं एक समझकर दोनों की कुछ कृतियों को परस्पर एक दूसरे के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। इसका विवरण राजशेखर की कृतियों के विवेचन-क्रम में आगे दिया जायेगा। राजशेखर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सम्बन्धित अन्य बातों का वर्णन तीसरे राजशेखर कुल्लूर के परिचय के बाद दिया जायेगा।

तीसरे राजशेखर कुल्लूर, गौतमगोत्रीय कुल्लूरवंशीय वेंकटेश के पुत्र थे। ये गोदावरी जिले के पेरूर नामक स्थान के निवासी थे। यहाँ उल्लेखनीय है कि डा० प्रवेशभारद्वाज के अपने शोध-प्रबन्ध 'प्रबन्धकोश का ऐतिहासिक विवेचन' में राजशेखर कुल्लूर का उल्लेख नहीं है। उनके शब्दों में 'राजशेखर नाम के दो विद्वान् हुए हैं—एक राजशेखर कवि और दूसरा जैनप्रबन्धकार राजशेखर सूरि। राजशेखर कवि 'काव्यमीमांसा', 'कर्पूरमंजरी' आदि का रचयिता गाहड़वालकालीन था। राजशेखर सूरि प्रबन्धकोश आदि का कर्ता तुगलककालीन इति-

१. विश्वकोश खण्ड-१०, पृ० ७७

२. आफ्रोच्ट थियोडोर, कैटलागस कैटलागरम भाग-१, पृ० ५०२

३. वही, पृ० ५०२



हासकार था”<sup>१</sup> । राजशेखर कुल्लूर के पितामह नारायण मीमांसा में पारंगत थे । पेशवा माधवराव ने इनका सम्मान (१७६०-१७७२ ई०) किया था । इनकी रचनाओं में साहित्यकल्पद्रुम, शिवशतक, श्रीशचम्पू, और अलंकारमकरण्ड आदि का उल्लेख प्राप्त होता है<sup>२</sup> ।

### मलधारि राजशेखर का जीवन वृत्त

अपने जन्म-काल, जन्मस्थान, माता-पिता आदि के सम्बन्ध में न तो स्वयं आचार्य ने ही कहीं उल्लेख किया है और न ही अन्य स्रोतों से इस सम्बन्ध में कुछ ज्ञात होता है । डा० प्रवेश भारद्वाज ने प्रबन्धकोश में अणहिल्लपत्तन का बारह बार उल्लेख आने एवं इसी स्थान से प्रबन्धकोश की सर्वाधिक हस्तप्रतियाँ उपलब्ध होने को आधार मानकर अणहिल्लपत्तन को ही राजशेखर का जन्मस्थल माना है ।<sup>३</sup> डा० भारद्वाज की इस युक्ति को स्वीकार किया जा सकता था यदि उक्त ग्रन्थ की विषय-वस्तु सर्वथा कविकृत होती; परन्तु ऐसा है नहीं । अन्य पूर्ववर्ती प्रबन्धों की विषयवस्तु से प्रबन्धकोश की विषयवस्तु का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि प्रबन्धकोश की अधिकांश सामग्री पूर्ववर्ती ग्रन्थों से ग्रहण की गई है । उदाहरणस्वरूप प्रबन्धकोश का ‘खपुटाचार्य प्रबन्ध’ नेमिचन्द्रसूरि विरचित आख्यानक-मणिकोश (ई० १०७३-१०८३) में प्राप्त होता है<sup>४</sup> । इसके पादलिप्तप्रबन्ध और बप्पभट्टि प्रबन्ध आचार्य प्रभाचन्द्र कृत प्रभावकचरित की तद्विषयक सामग्री के<sup>५</sup> तो ‘मल्लवादि प्रबन्ध’ आचार्य मेरुतुंग कृत प्रबन्ध-चिन्तामणि का अनुकरण मात्र है<sup>६</sup> । इसी प्रकार सातवाहन प्रबन्ध व

१. डा० भारद्वाज, प्रवेश, प्रबन्धकोश का ऐतिहासिक विवेचन (अप्र०) पृ० २३
२. कृष्णमाचारी, एम०, हिस्ट्री आव क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५०८ ७८७, ७८८
३. डा० भारद्वाज, प्रवेश, प्रबन्धकोश का ऐतिहासिक विवेचन, पृ० २३
४. प्रबन्धकोश (सिधीजैन सिरीज), पृ० ८-९ व आख्यानक मणिकोश (प्राकृत-टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी १९६२) पृ० १७४-७५
५. प्रबन्धकोश, पृ० ११-१२ व पृ० २६, पृ० २७-२९ व ८०-१११ प्रभावक-चरित (सिधीजैन सिरीज)
६. वही, पृ० २ व प्रबन्धचिन्तामणि (सिधी जैन सिरीज) पृ० १०६-१९८

वङ्कचूल प्रबन्ध जिनप्रभकृत-विविधतीर्थ कल्प से ग्रहीत है<sup>१</sup> । अभिप्राय यह कि जब ग्रन्थ की अधिकांश सामग्री दूसरे ग्रन्थों से यथावत् ली गई हो तो अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कर्ता के विषय में किसी निश्चय पर पहुँचना उपयुक्त नहीं होगा ।

राजशेखर का जन्म काल तेरहवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है । यद्यपि निश्चयात्मक रूप से कुछ कह पाना कठिन है । 'खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि' में अन्य लोगों के साथ संवत् १३१३ (१२५६ ई०) में गच्छ-वृद्धि दीक्षा लेने का उल्लेख है<sup>२</sup> । अतः यदि हम कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र (बालक चांगदेव) की आठ वर्ष में दीक्षा की घटना को तत्कालीन परम्परा मान लें और राजशेखर की भी दीक्षा ८-१० वर्ष की आयु में हुई हो तो उनका जन्म सन् १२५० के आस-पास माना जा सकता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य का गृहस्थजीवन तो पूर्णतया अज्ञात है ही उनके आध्यात्मिक जीवन की भी मात्र कुछ छिट-पुट घटनाओं का ही उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है । आगे हम इन तथ्यों पर प्रकाश डालेंगे:—

### श्रमण-दीक्षा

खरतर गच्छ-बृहद्गुर्ववलि के अनुसार संवत् १३१३ (१२५६ ई०) में जावालिपुर (जालौर) में स्वर्णगिरि के ऊपर महाप्रासाद में शान्तिनाथ की प्रतिमा स्थापित की गई और कनककीर्ति, विबुधराज, राजशेखर आदि ने गच्छवृद्धि की दीक्षा ग्रहण की<sup>३</sup> ।

यद्यपि इसमें दीक्षा देने वाले आचार्य का उल्लेख नहीं है परन्तु अपने गुरु के रूप में राजशेखर ने कई स्थलों पर श्री श्रीतिलकसूरि का उल्लेख किया है ।

१. प्र०को०, पृ० व विविधतीर्थकल्प (सिधीजैनसिरीज) पृ० ५९-६४ व ८१-८३
२. सं जिनविजय-खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि, सिधीजैनग्रन्थमाला सं. ४२, भारतीय विद्याभवन, बम्बई १९५६, पृ० ५१
३. संवत् १३१३ फाल्गुन सुदि ४, श्रीया (जा) वालिपुरे स्वर्णगिर्युपरि महाप्रासादे बाहित्रिकोद्धरण प्रतिष्ठापित श्री शान्तिनाथस्थापना । चैत्रसुदि १४, कनककीर्ति-विबुधराज—राजशेखर, गुणशेखर, जयलक्ष्मी-कल्याण-निधि-प्रमोदलक्ष्मी-गच्छवृद्धिदीक्षा । खरतरगच्छबृहद्गुर्वावलि-सं० जिन-विजय, पृ० ५१

## राजशेखर को गुरु-परम्परा

स्वयं राजशेखर भूरि ने प्रबन्धकोश की प्रशस्ति में कहा है कि वे प्रसिद्ध कोटिक गण की मध्यमाशाखा के प्रश्नवाहन कुल में हर्षपुरीय नामक गच्छ में उत्पन्न हुए थे। इसी गच्छ में मलधारि विरुद प्राप्त श्री अभयदेवसूरि के सन्तान श्री श्रीतिलकसूरि के शिष्य राजशेखर हुए।<sup>१</sup>

पट्टावली समुच्चय<sup>२</sup> में कोटिक गण की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। इसकी उत्पत्ति प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी की परम्परा में ९वें पट्टधर सुस्थितसूरि से बताई गई है। एक करोड़ सूरि मन्त्र के जाप के कारण इन्हें कोटिक और काकन्दि में जन्म होने के कारण काकन्दिक विरुद प्राप्त हुआ था।<sup>३</sup> इसी पुस्तक में अन्यत्र उल्लेख है कि सुस्थितसूरि के पूर्व सभी जैन श्रमण निर्ग्रन्थ नाम से जाने जाते थे।<sup>४</sup> आचार्य के अनुयायी कोटिक कहे जाने लगे। कोटिकगण की चार शाखाओं में से एक मध्यमा शाखा थी। इसके चार कुल भी थे, जिनमें चौथा कुल प्रश्नवाहन कुल था।<sup>५</sup> प्रश्नवाहन कुल से कालान्तर में हर्षपुरीय गच्छ उत्पन्न हुआ।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार सुस्थितसूरि से कोटिक गण की उत्पत्ति हुई परन्तु राजशेखर<sup>६</sup> ने हर्षपुरीय गच्छ को स्थूलभद्र के वंश

१. श्री प्रश्नवाहनकुले कोटिकनामनिगणे जगद्विदिते ।

श्री मध्यमशाखायां हर्षपुरीयाभिधगच्छे ॥ १ ॥

मलधारि विरुदविदित श्री अभयोपपदसूरिसन्ताने

श्री तिलकसूरिशिष्यः सूरिः राजशेखरो जयति ॥ २ ॥

प्रबन्धकोश-प्रशस्ति

२. मुनि दर्शनविजय, पट्टावली समुच्चय भाग १, पृ० २५-२६, चारित्रस्मारक ग्रन्थमाला वीरमग्राम, गुजरात, १९३३ ।

३. काकन्दिनगर्या जातत्वात् कोटिशः सूरिमन्त्र जापाच्च एतो कोटिककाकन्दिकतयाख्यातौ । आभ्यां कोटिकनामा गच्छोऽभूत् ॥ वही, पृ० १५० ।

४. श्री सुधर्मस्वामिनोऽष्टौसूरीन् यावत् निर्ग्रन्थाः साधवोऽनगारा इत्यादि सामान्यार्थाभिधायिन्याख्याऽसात् । वही, पृ० ४५ ।

५. कल्पसूत्र-पृ० २३२, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर १९७७ ई० ।

६. श्री स्थूलभद्रवंशे हर्षपुरीये क्रियानिधौ गच्छे ।

—प्रशस्ति रत्नाकरावतारिका पंजिका ।

में बताया है। स्थूलभद्र, नवें पट्टपर विराजमान सुस्थितसूरि से पूर्व सातवें पट्टपर विराजमान थे। यदि राजशेखर के इस उल्लेख से यह अभिप्राय निकलता है कि कोटिकगण स्थूलभद्र से निकला तो यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि सुस्थितसूरि के निर्वाण के पूर्व श्रमण परम्परा गण आदि में विभक्त नहीं थी।

श्री अभयदेवसूरि हर्षपुर के वासी थे अतः उनसे निकला गच्छ हर्षपुरीय नाम से जाना जाने लगा। स्वर्गीय अगरचन्द नाहटा ने हर्षपुर की पहचान राजस्थान के वर्तमान हरसौर, मकराने के निकट स्थित से की है, जबकि दर्शनदिव्य जी आदि कई विद्वानों ने इसे अजमेर के निकटवर्ती हाँसोट से समीकृत किया है। अभयदेवसूरि को मलधारि विरुद्ध प्राप्त था इस विषय में सभी साक्ष्य एक मत हैं। पर उन्हें यह मलधारि उपाधि किस चालुक्य राजा द्वारा प्राप्त हुई थी इस विषय में मतभेद है। हर्षपुरीय गच्छाचार्य मलधारि नरेन्द्रप्रभ ने अपने ग्रन्थ अलंकार महोदधि की प्रशस्ति<sup>२</sup> में, एवं राजशेखर ने प्रबन्धकोश<sup>३</sup> की प्रशस्ति में चालुक्य राजा कर्णद्वारा श्री अभयदेव को यह उपाधि प्रदान करने का उल्लेख किया है। जबकि इन्हें दुष्कर क्रियाशील देखकर चौलुक्य सिद्धराज जयसिंह ने मलधारि विरुद्ध प्रदान किया था, यह जिनप्रभ कहते हैं। चालुक्य राजाओं की वंशावली में कर्ण, सिद्धराज जयसिंह के पूर्ववर्ती थे।

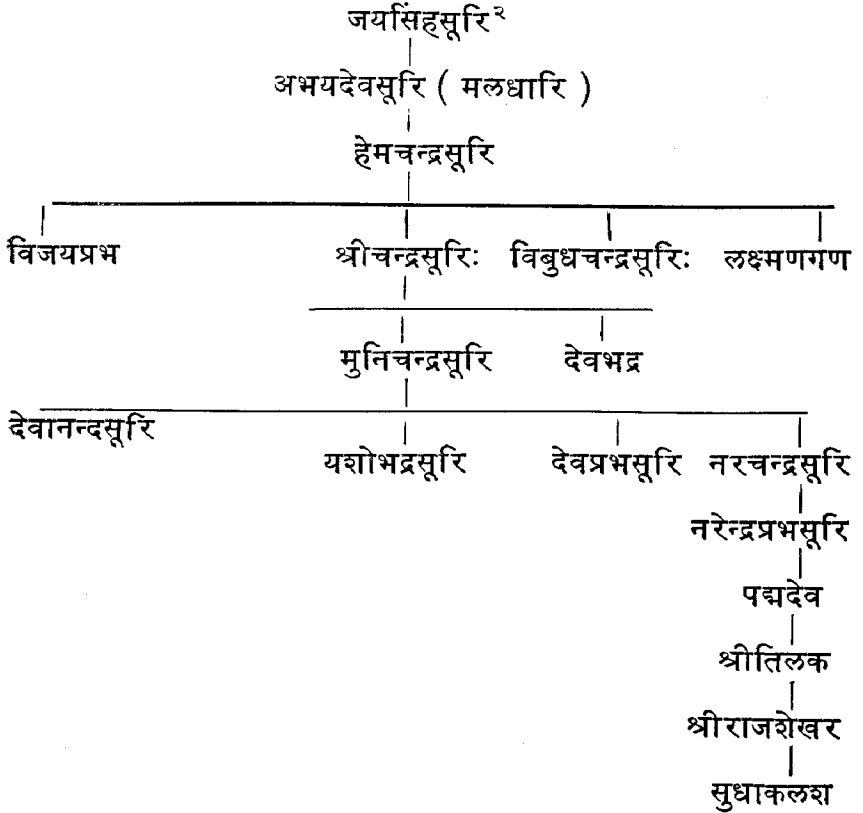
श्री राजशेखर ने प्रबन्धकोश<sup>४</sup> के अतिरिक्त रत्नाकरावतारिका

१. यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ—सं० मु० विद्याविजय, पृ० १५९, श्री राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय भु० खुड़ाला, फालना, राजस्थान १९५८
२. गच्छे हर्षपुरीये गुणसेवधिरभयदेवसूरिभूत् ।  
मलधारीत्यभिधाऽन्तरमधत्तः यः कर्णभूपकृतम् ॥ १ ॥  
अलंकार महोदधि, सं० भगवानदास गान्धी, पृ० ३३९, ओरिएण्टल इंस्टी-  
च्यूट बड़ौदा, १९४२
३. श्री गुर्जरेन्द्रकर्णोद्वयोषित 'मलधारि विशदवरविरुद्धः । श्री अभयदेव सूरि  
.....प्रबन्धकोश प्रशस्ति
४. विविधतीर्थकल्प—जिनप्रभसूरि, सिन्धी जैन सिरीज, पृ० ७७,
५. श्री तिलकसूरि शिष्यः सूरिः श्रीराजशेखरो जयति ॥ २ ॥

प्रबन्धकोश प्रशस्ति ।

पंजिका<sup>१</sup> की प्रशस्ति में भी अपने गुरु श्री तिलकसूरि का उल्लेख किया है ।

मलधारिगच्छीय आचार्यों की कृतियों एवं अन्य स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर हर्षपुरीयगच्छ की गच्छाधिपति और सूरि परम्परा इस प्रकार दी जा सकती है—



१. रत्नाकरावतारिका पंजिका मंगलाचरण ३ ।

रत्ना० पंजिका प्रशस्ति ४ । द्रष्टव्य—डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आव द मैनुस्क्रिप्ट्स, खण्ड १८/१ पृ० ७१, ७३ ।

२. कल्पसूत्र सुबोधिका—विनयविजयगणि—पृ० १६७-१६९

द्रष्टव्य—अलंकार महोदधि—नरेन्द्रप्रभसूरि प्रस्तावना गायकवाड ओरि-यण्टल सिरीज १९४२

हर्षपुरीय गच्छाचार्यों का जैन धर्म में विशिष्ट योगदान रहा है। इस विषय में राजशेखर सूरि के शिष्य सुधाकलश के शब्दों में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि—

राजानः प्रतिबोधिताः कति कति ग्रन्था स्वयं निर्मिताः ।  
वादीन्द्राः कति निर्जिताः कति तपांस्युग्राणि तप्तानि च ॥  
श्रीमद्हर्षपुरीयगच्छमुकुटैः श्रीसूरि सूत्रामभिः  
सच्छिष्यैः मुनिभिश्च वेत्ति नवरं वागीश्वरी तन्मितम् ।<sup>१</sup>

### अध्ययन एवं पाण्डित्य

मलधारि राजशेखर की कृतियों के शीर्षकों का अवलोकन करने मात्र से ही यह धारणा बनती है कि आचार्य का अध्ययन एवं ज्ञान-क्षेत्र बहुत व्यापक था। यह संयोग ही है कि आचार्य द्वारा अधीत कुछ ग्रन्थों के नाम सहित उल्लेख प्राप्त होने के साथ-साथ उनको अध्ययन कराने वाले आचार्यों का भी नामोल्लेख मिलता है। इन्होंने जिनचन्द्र सूरि से अध्ययन किया था। खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि में उल्लिखित है कि विवेक समुद्र उपाध्याय के निर्वाण-महोत्सव के उपरान्त राजेन्द्राचार्य, दिवाकराचार्य, राजशेखराचार्य, राजदर्शन गणि, सर्वराज आदि अनेक मुनिवृन्द ने अपने पूज्य गुरु जिनचन्द्रसूरि के साथ बैठकर हैमव्याकरण, बृहद्वृत्ति, षट्त्रिंशत्सहस्रप्रमाण, न्याय, महातर्क आदि सभी शास्त्रों की तीन बार आवृत्ति की।<sup>२</sup>

राजशेखर ने स्वरचित 'न्यायकन्दली पंजिका' में जिनप्रभसूरि को

१. संगीतोपनिषत्सारोद्धार [अ० ६, श्लोक ४८]

द्रष्टव्य—अलंकार महोदधि—नरेन्द्रसूरि प्रस्तावना, गायकवाड ओरि-  
यण्टल सिरीज १९४२ ।

२. ...स्वकीयसुगुरु श्रीजिनचन्द्रसूरिस्वसहाध्यायि श्रीराजेन्द्राचार्य श्रीराज-  
शेखराचार्य वारत्रयं भणितश्री हैमव्याकरणबृहद्वृत्ति-षट्त्रिंशत्  
सहस्रप्रमाण श्रीन्यायमहातर्कीदिसर्वशास्त्राणां..... ।

खरतरगच्छबृहद्गुर्वावलि, पृ० ७१

अपने अध्यापक के रूप में स्मरण किया है।<sup>१</sup> 'राजशेखर सूरि जिन-चन्द्रसूरि और जिनप्रभसूरि से अध्ययन किये थे।' इसका कई स्थानों पर उल्लेख प्राप्त होता है।

राजशेखर सूरि को क्रमशः और विधिपूर्वक प्रदत्त वाचनाचार्य, आचार्य की उपाधियाँ ही उनकी असाधारण प्रतिभा एवं योग्यता को व्यक्त करती हैं। इन उपाधियों के धारक श्रमण बहुश्रुत एवं अत्यन्त ज्ञानी होते थे। कल्पसूत्र में आचार्य की योग्यता बताते हुए कहा गया है कि आचार्यपद का अधिकारी वही व्यक्ति है जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का पालन करे और अपने शिष्यों से पालन करावे, जो साधुसंघ का स्वामी हो और संघ के अनुग्रह-निग्रह, सारण-वारण और धारण में कुशल हो, लोकस्थिति-वेत्ता हो, जातिमान् आदि आठ सम्पदाओं से युक्त हो।<sup>२</sup> स्थानांग-सूत्र की टीका में आचार्यपद की योग्यता निर्दिष्ट करते हुए कहा गया है—चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, द्रव्यानुयोग और गणितानुयोग इन अनुयोगचतुष्टयों के ज्ञान को धारण करने वाला, चतुर्विध-संघ के संचालन में समर्थ तथा छत्तीस गुणों का धारक साधु आचार्य पदवी के योग्य माना जाता है।<sup>३</sup>

इसी प्रकार सूरि पद भी अत्यन्त विद्वान् एवं उच्चाचार वाले श्रमण को प्रदान किया जाता था। योगशास्त्र<sup>४</sup> के अनुसार जो संयतों को दीक्षा दिया करता है उसे सूरि कहा जाता है। देवसेन<sup>५</sup> के अनुसार जो छत्तीस गुणों से परिपूर्ण होकर पाँच आचारों का पालन करता हुआ शिष्यों के अनुग्रह में दक्ष होता है उसे सूरि कहते हैं।

१. डॉ० भारद्वाज, प्रवेश, प्रबन्धकोश का ऐतिहासिक विवेचन पृ० २७,

२. कल्पसूत्र, उ० ३ सूत्र १३

३. जैनसिद्धान्तबोल संग्रह, सं० सेठिया, भैरोदान, भाग-२, पृ० २३९-४०, जैन पारमार्थिक संस्था बीकानेर, राजस्थान १९४५

४. जैन लक्षणावली, भाग ४

५. वही

स्वयं राजशेखर ने अपने को ग्रन्थ-प्रणयन सामर्थ्य से युक्त बताया है।<sup>१</sup> राजशेखर ने अपनी इस प्रतिभा का उपयोग विविध-विषय के ग्रन्थों की प्रसूति में किया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में आगम-ग्रन्थों, प्राकृत व संस्कृत के अनेक ग्रन्थकारों व उनकी रचनाओं का उल्लेख किया है जो उनके व्यापक ज्ञान का परिचायक है।

मलधारि राजशेखर को दर्शन का अच्छा ज्ञान था। अपनी कृति षड्दर्शनसमुच्चय में इन्होंने जैन, सांख्य, मीमांसा, शैव, वैशेषिक और बौद्धदर्शनों का स्वरूप वर्णन पूर्वाग्रह रहित हो निरपेक्ष भाव से किया है। रत्नाकरावतारिकापञ्जिका और न्यायावतारटिप्पण में जैन न्याय, न्यायकन्दली पञ्जिका में बौद्ध दर्शन, स्याद्वाद कलिका में स्याद्वाद का विवेचन विविध दर्शनों पर इनके अधिकार को परिलक्षित करता है।

इसके अतिरिक्त जन्म-मरण, राज्यारोहण आदि से सम्बद्ध भविष्यवाणियों व ग्रह, नक्षत्र और राशियों का वर्णन विभिन्न संदर्भों में राजशेखर ने किया है जिससे ज्योतिष-शास्त्र पर आचार्य के ज्ञान एवं विश्वास का बोध होता है।

राजशेखर सूरि को इतिहास का भी अच्छा ज्ञान था परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों के साथ बहुत सी किंवदन्तियों व कथाओं का समावेश होने के कारण ऐतिहासिक सत्यता संदिग्ध हो गयी है। डा० मजुमदार ने राजशेखर सूरि की इस प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए लिखा है—सम्भवतः गुजरात के इतिहासकारों में राजशेखर सबसे अधिक अप्रामाणिक हैं क्योंकि उनका ग्रन्थ विसंगतियों से भरा पड़ा है तथा भयावह है क्योंकि वह इतिहास ग्रन्थ की सादृश्यता का आभास देता है।<sup>२</sup>

राजशेखर एक कवि, दार्शनिक और व्याख्याकार के रूप में ही हमारे समक्ष नहीं आते बल्कि उन्होंने ग्रन्थों का संशोधन भी किया

१. विद्वत्प्रसादतो ग्रन्थग्रन्थन (ता) रे (२) ब्धपौरुषः ॥५॥

रत्नाकरावतारिका पञ्जिका प्रशस्ति ॥

२. डॉ० मजुमदार, ए० के०—चालुक्याज आव गुजरात, पृ० ४२०, भारती प्रविद्या भवन, बम्बई १९५६



है। बृहद्गच्छीय गुणभद्रसूरि विरचित शान्तिनाथचरित का संशोधन<sup>१</sup> इसका प्रमाण है।

### राजशेखर को पद-प्राप्ति

राजशेखर को संवत् १३१३ ( ई० सन् १२५६ ) में गच्छवृद्धि की दीक्षा दिये जाने का स्पष्ट उल्लेख है। गच्छवृद्धि की दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् श्रमण को मुनि कहा जाता है। मुनि के बाद अगले क्रम में श्रमण को गणि पद प्रदान किया जाता है। राजशेखर को गणिपद किस समय प्रदान किया गया यह तो ज्ञात नहीं होता परन्तु यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि संवत् १३४१ में ( १२८४ ई० ) जावालिपुर ( वर्तमान जालौर ) के वर्धमान महावीर के मन्दिर में श्री जिन प्रबोधसूरि द्वारा जिनचन्द्रसूरि को आचार्य पद पर स्थापित किया गया और उसी दिन राजशेखर गणि को वाचनाचार्य अर्थात् उपाध्याय पद प्रदान किया गया।<sup>२</sup> इससे स्पष्ट है कि संवत् १३१३ और १३४१ के मध्य किसी समय गणिपद प्राप्त कर चुके थे। खरतरगच्छ<sup>३</sup> बृहद्गुर्वावलि के आधार पर ही डॉ० प्रवेश भारद्वाज ने यह सूचना दी है कि वर्धमानसूरि ने संवत् १३४१ ई० में राजशेखरगणि को वाचनाचार्य पद प्रदान किया जो तथ्यपूर्ण नहीं है। सम्भवतः डा० भारद्वाज ने गुर्वावलि में उल्लिखित—सकललोकचमत्कारिणि श्री वर्धमान स्वामिनो महातीर्थे<sup>४</sup> अर्थात् 'सम्पूर्ण लोक को चमत्कृत करने वाले वर्धमान अर्थात् महावीर स्वामी के तीर्थ' के उल्लेख को वर्धमानसूरि का उल्लेख समझकर यह भूल की है।

१. डॉ० वेलणकर, एच० डी०—जिनरत्नकोश खण्ड १, पृ० ३८०, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इस्टीच्यूट, पूना १९४४
२. श्रीपूज्या: जावालिपुरे समायाता: । तत्र च सकललोक चमत्कारकारिणी श्रीवर्धमानस्वामिनो महातीर्थे ... श्री जिनप्रबोधसूरिभिः... श्री जिनचन्द्रसूरयः सं १३४१ ... स्वपदे महाविस्तरेण स्थापिताः । तस्मिन्नेव दिने राजशेखरगणेवार्चनाचार्यपदं प्रदत्तम् ।  
खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावली, पृ० ५८ ।
३. डॉ० भारद्वाज, प्रवेश, प्रबन्धकोश का ऐतिहासिक विवेचन, पृ० ३०

खरतरगच्छबृहद्गुर्वावलि के ही अनुसार संवत् १३६४ ( १३०७ ई० ) में जावालिपुर में राजशेखर को आचार्य पद प्रदान किया गया ।<sup>१</sup>

डा० प्रवेश भारद्वाज ने मलधारि राजशेखर आचार्य को सूरि पद दिये जाने का समय भी अनुमान के आधार पर ( १३१० ई०-१३२८ ई० ) निश्चित किया है ।<sup>२</sup> परन्तु आचार्य पद और सूरि पद भिन्न-भिन्न थे या आचार्य पद से सूरिपद श्रेष्ठ था ऐसा प्रतीत नहीं होता है । वस्तुतः व्यवहार में भी आचार्य और सूरि उपाधियाँ एक ही हैं । आचार्य को ही सूरि कहा जाता है । अतः इस प्रकार की अवधारणा कि आचार्य पद प्राप्त करने के पश्चात् किसी समय मलधारि राजशेखर को सूरिपद प्रदान किया गया, उचित नहीं है ।

### विहार और चातुर्मास—

खरतरगच्छबृहद्गुर्वावलि से ज्ञात होता है कि संवत् १३५२ में जिनचन्द्रसूरि के उपदेश से वाचनाचार्य राजशेखर गणि, सुबुद्धिराजगणि, हेमतिलकगणि, पुण्यकीर्तिगणि, रत्नसुन्दरमुनि सहित बृहद्ग्राम आये ।<sup>३</sup> तदुपरान्त ठक्कुर रत्नपाल आदि श्रावकों ने कौशाम्बी, वाराणसी, काकिन्दी, राजगृह, पावापुरी, नारिन्दा, क्षत्रियकुण्डग्राम, अयोध्या, रत्नपुर आदि नगरों की तीर्थयात्रा की । उन मुनियों और श्रावकों के साथ संघ सहित वाचनाचार्य राजशेखरगणि ने उन तीर्थों की वन्दना की ।<sup>४</sup> राजगृह के समीप उद्दण्ड विहार में चातुर्मास किया ।<sup>५</sup>

१. वाचनाचार्यराजशेखरगणेराचार्यपदं प्रदत्तम् ।—खरतरगच्छबृहद्गुर्वावलि, पृ० ६१

२. डॉ० भारद्वाज, प्रवेश, प्रबन्धकोश का ऐतिहासिक विवेचन, पृ० ३४

३. सं० १३५२ जिनचन्द्रसूरिगुरूपदेशेन वा० राजशेखरगणिः ... ..  
... .. मुनिसहितः श्रीबृहद्ग्रामे विहृतवान् ।

खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि, पृ० ६०

४. वही, पृ० ६०

५. प्रबन्धकोश का ऐतिहासिक विवेचन, पृ० ३०

## मूर्तिप्रतिष्ठा

जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह<sup>१</sup> से सूचना प्राप्त होती है कि संवत् १४१८ में मलधारि राजशेखर ने श्रीमाल में श्रीपार्श्वनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवायी थी ।

## आचार्य राजशेखर और तुगलक शासक

खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि के अनुसार सन् १३२८ ई० में मुहम्मद तुगलक ( १३२५-१३५१ ई० ) ने राजशेखर के शिक्षा गुरु जिनप्रभसूरि को दिल्ली आमन्त्रित किया था । जिनप्रभ के साथ राजदरवार में उनके शिष्य जिनदेव, राजशेखर आदि भी गये थे ।<sup>२</sup> राजशेखर का दीर्घकालीन दिल्ली प्रवास और दिल्ली में ही प्रबन्धकोश की रचना भी यही इंगित करती है कि राजशेखर का तुगलक शासक मुहम्मद तुगलक पर प्रभाव था और सुल्तान के चरित्र में धार्मिक सहिष्णुता के विशिष्ट गुण का समावेश था । एम० ए० इलियट एवं एफ० ई० मेरिल ने भी लिखा<sup>३</sup> है कि जिनप्रभसूरि के साथ तुगलक दरवार में प्रतिष्ठा अर्जित कर लेने से राजशेखर की प्रस्थिति में भी वृद्धि हुई । ऐसी प्रस्थिति के अनुरूप उन्होंने जो भूमिका निभाई वह जैन इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगी । प्रस्थिति जन्म जात भी होती है और अर्जित भी । भूमिका का आशय पदों से जुड़े कर्त्तव्यों और कार्यों से है ।

## शिष्यपरम्परा

अकेले मुनिसुधाकलश 'रचयिता संगीतोपनिषत् सारोद्धार' ( १३४९ ई० ) का मलधारि राजशेखर के शिष्य के रूप में उल्लेख मिलता है । स्पष्ट रूप से सुधाकलश ने राजशेखर को अपना गुरु माना है ।<sup>४</sup>

१. बुद्धिसागर सूरि—जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह भाग १, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, चम्पागली, बम्बई १९३५
२. प्रबन्धकोश का ऐतिहासिक विवेचन, पृ० ३५
३. इलियट, एम० ए० एवं मेरिल, एफ० ई० : सोसल डिसआर्गेनाइजेशन पृ० ९, न्यूयार्क, १९६१
४. अलंकार महोदधि—प्रस्तावना

**अन्त समय**

जिस प्रकार राजशेखर के जन्म-काल का उल्लेख नहीं मिलता है। उसी प्रकार उनके देहावसान का काल भी अज्ञात है। उनका दीक्षा-काल संवत् १३१३ उल्लिखित है और संवत् १४१० ( ई० सन् १३५२-५३ ) में शान्तिनाथचरित का संशोधन करने और संवत् १४१८ ( १३६१ ई० ) में पार्श्वनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाने का विवरण मिलता है। यदि इन साक्ष्यों को प्रमाण मानें तो इतना निश्चित है कि राजशेखर की आयु सौ से ऊपर रही होगी। संवत् १४१८ के आस-पास ही इनकी मृत्यु हुई होगी।

इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी के मध्य में जन्में राजशेखर श्रमण धर्म में दीक्षा लेकर मुनि से आचार्य पर्यन्त पद प्राप्त किये। मुहम्मद तुगलक के दरबार में प्रतिष्ठित हुए एवं विभिन्न ग्रन्थों की रचना कर चौदहवीं शताब्दी के मध्य में महाप्रयाण किये।

**राजशेखर की कृतियाँ****प्रबन्धकोश :**

राजशेखर की कृतियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रबन्धकोश है। इसके चतुर्विंशतिप्रबन्ध और प्रबन्धामृतदीर्घिका नाम भी मिलते हैं। सामान्यतः प्रबन्धकोश और चतुर्विंशति प्रबन्ध ही अधिक प्रचलित हैं। इसकी रचना आचार्य ने वि० सं० १४०५ ( १३४८ ई० ) में दिल्ली में महण सिंह द्वारा प्रदत्त आवास में किया था। इसमें कुल चौबीस प्रबन्ध हैं, जो दस प्रभावक आचार्यों, चार कवियों, सात नरेशों और तीन श्रावकों के आख्यान पर आधारित हैं। ये आचार्य हैं—भद्रबाहु, आर्यनन्दिल, जीवदेवसूरि, आर्यखण्ड, पादलिप्त, वृद्धवादि-सिद्धसेन, मल्लवादि, हरिभद्र, बप्पभट्टि और हेमचन्द्रसूरि, चार कवि हैं—हर्ष, हरिहर, अमरचन्द्र, और मदनकीर्ति। सात नरेशों में—सातवाहन, वङ्गचूल, विक्रमादित्य, नागार्जुन, वत्सराजउदयन, लक्ष्मणसेनकुमारदेव और मदनवर्म सम्मिलित हैं। अन्त में तीन जैनश्रावकों—रत्न, आभड और वस्तुपाल-तेजपाल का विवरण प्राप्त होता है।

**संस्करण :**

अद्यावधि पाटन<sup>१</sup>, जामनगर<sup>२</sup> और शान्तिनिकेतन<sup>३</sup> से प्रबन्धकोश के तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रबन्धकोश के दो प्रबन्ध बप्पभट्टिसूरि प्रबन्ध<sup>४</sup> और वस्तुपाल प्रबन्ध<sup>५</sup> अलग से भी प्रकाशित हैं।

अब तक इसके दो गुजराती रूपान्तर भी प्रकाशित हो चुके हैं। सन् १८९५ ई० में ननुभाई द्विवेदी कृत गुजराती अनुवाद चतुर्विंशति प्रबन्ध शीर्षक से बड़ौदा से प्रकाशित है। सन् १९३४ ई० में हीरालाल रसिकलाल कापडिया कृत गुजराती अनुवाद फोर्बस गुजराती सभा बम्बई के तत्त्वावधान में प्रकाशित है।

**२. षड्दर्शन समुच्चय :<sup>६</sup>**

१८० श्लोकों में विरचित इसमें जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक और बौद्ध दर्शनों के सन्दर्भ में प्रत्येक के अनुसार प्रतीक (लिङ्ग), वेश, आचार, प्रमुख देव, गुरु, प्रमाण, तत्त्व, मुक्ति, सम्प्रदाय-भेद का परिचय दिया गया है।<sup>७</sup> इसमें योग शीर्षक के अन्तर्गत न्याय दर्शन

१. हेमचन्द्राचार्य सभा, पाटन, पाण्डुलिपि आकार, पृ० १३८, सन् १९२१
२. संशोधक वीरचन्द्र और प्रभुदास, हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९३१
३. सं० मुनि पुण्यविजय, सिधी जैन ज्ञानपीठ शान्तिनिकेतन
४. आगमोदय समिति बम्बई ( १९२५ ई० ) से बप्पभट्टिचरित के रूप में प्रकाशित है।
५. बालचन्द्र सूरि कृत 'वसन्तविलास, गायकवाड ओरियण्टल सिरीज बड़ौदा से प्रकाशित' के परिशिष्ट के रूप में
६. (अ) मूल—यशोविजय जैन ग्रन्थमाला वाराणसी सन् १९१२ ई० ।  
(ब) मूल—आगमोदय समिति सूरत सन् १९१८ ई० हरिभद्र के षड्दर्शन समुच्चय के साथ  
(स) मूल ऋषभदेव जी केशरीमल जी श्वेताम्बर संस्था रतलाम १९३७ ई० संस्कृत प्राचीन प्रकरणादि समुच्चय के अन्तर्गत
७. ब्रूयूदर्शनानि षट् ।  
तेषां लिङ्गे च वेषं च आचारे दैवते गुरौ ॥२॥  
प्रमाणतत्त्वयोर्मुक्तौ तर्के भेदो निरीक्ष्यते ।

षड्दर्शन समुच्चय ।

का निरूपण है। आचार्य ने छः दर्शनों के कुछ प्रमुख ग्रन्थों का उल्लेख किया है। कहीं केवल ग्रन्थ-नाम तो कहीं ग्रन्थ के कर्ता और उस पर रचित मुख्य टीका ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है।

### ३. स्याद्वाद-कलिका :

४१ श्लोकों में निबद्ध यह कृति हीरालाल हंसराज, जामनगर द्वारा प्रकाशित है। ग्रन्थ के शीर्षक से ज्ञात होता है कि इसमें स्याद्वाद की प्रारम्भिक बातें निहित होंगी।

### ४. रत्नाकरावतारिका-पञ्जिका :

यह वादिदेवसूरि (१०८५-११६९ ई०) द्वारा ६५६ कारिकाओं में विरचित प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार नामक ग्रन्थ, जिसमें जैन न्याय प्रतिपादित है, पर आचार्य द्वारा लिखित व्याख्या ग्रन्थ है।<sup>१</sup> इसका आचार्य राजशेखर ने विवृति और पञ्जिका<sup>२</sup> दोनों नामों से उल्लेख किया है। इसका सम्पादन पं० दलसुख मालवणिया ने किया है।

### ५. न्यायकन्दली-पञ्जिका

वैशेषिक दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रशस्तपाद पर श्रीधर ने न्याय-कन्दली नामक भाष्य लिखा था। यह पञ्जिका न्यायकन्दली पर आचार्य की टीका है। इसका रचना काल संवत् १३८५ और ग्रन्थाग्र ४००० श्लोक प्रमाण है।

### ६. न्यायावतार-टिप्पणक :

जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह<sup>३</sup> के अनुसार सिद्धसेन रचित न्यायावतार पर मलधारि राजशेखर ने टिप्पणक लिखा है। जिनरत्नकोश<sup>४</sup>

१. एल० डी० सिरीज, अहमदाबाद १९६५, तीन खण्डों में मूल और अन्य टीकाओं के साथ प्रकाशित
२. वेलणकर, एच० डी०, जिनरत्नकोश पृ० २१९
३. ( श्रीराजशेखरसूरि विरचितं ) न्यायावतारटिप्पणकं समाप्तं । संवत् १४८९ वर्षे श्रावणसुदि बुधे त्रयोदश्यां तिथौ लिखितं ।  
जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह-सं० मुनिजिनविजय भाग १, पृ० १४६, सिंधी जैन ग्रन्थमाला १८, भारतीय विद्याभवन बम्बई १९४२ ई०
४. जिनरत्नकोश पृ० २४ वेलणकर, एच० डी०,

में भी यही उल्लेख मिलता है परन्तु जैसलमेर की सूची<sup>१</sup> में इस व्याख्या ग्रन्थ के कर्ता मलधारिगच्छीय देवभद्रसूरि उल्लिखित हैं।

### ७. कौतुक कथा :

यह नैतिक कहानियों का संग्रह है। इसे विनोदकथा संग्रह व अन्तरकथा संग्रह भी कहते हैं। इसमें ८१ कथायें हैं।<sup>२</sup> बृहत्टिप्पणिका के अनुसार इसमें ८४ कथायें हैं।<sup>३</sup> श्वेताम्बर संस्था, रतलाम (१९३७ ई०) से प्रकाशित आचार्य राजशेखरसूरि कृत एक 'कथाकोश' भी उपलब्ध है। इसमें ८६ कहानियाँ संग्रहीत हैं। यह सम्भवतः अन्तरकथा संग्रह का ही अन्य नाम है।

### ८. दानषट्त्रिंशिका

३६ श्लोक में निबद्ध इस वृत्ति में दाता की प्रशंसा, दाता के गुण, लक्ष्मी का माहात्म्य, व सर्वमनोरथ प्राप्ति के उपकरण के रूप में दान वर्णित है। जिनरत्नकोश तथा जैनग्रन्थ और ग्रन्थकार में आचार्य राजशेखर की कृतियों के अन्तर्गत इसका उल्लेख नहीं है।

दानषट्त्रिंशिका चूर्ण सहित, श्वेताम्बर संस्था, रतलाम (सन् १९२७ ई०) से यशोदेव सूरि कृत प्रत्याख्यान स्वरूप आदि अन्य चार कृतियों के साथ प्रकाशित हैं।

### ९. सूरिमन्त्र नित्यकर्म

यह दस वक्तव्यों में विभाजित है। प्रथम वक्तव्य में आराधना की सत्रह मुद्रायें, द्वितीय वक्तव्य में मतिज्ञान, तृतीय वक्तव्य में श्रुतज्ञान, चतुर्थ वक्तव्य में अवधिज्ञान, पञ्चम वक्तव्य में मनःपर्यवज्ञान और षष्ठ वक्तव्य में केवल ज्ञान से सम्बन्धित मन्त्र वर्णित हैं। सातवें वक्तव्य में सम्पूर्ण सूरि मन्त्र, आठवें वक्तव्य में विस्तार पूर्वक देवताओं की स्तुति विधि, नौवें वक्तव्य में देवताओं की संक्षिप्त स्तुति विधि तथा अन्तिम वक्तव्य 'महिमा' शीर्षक से उपलब्ध है।

४. जैसलमेर कलेक्शन, सं० मालवणिया, पं० दलसुख, पृ० १६१, एल० डी० इन्स्टीच्यूट ऑव इण्डोलॉजी, अहमदाबाद-९, १९७२

१. जिनरत्नकोश, डॉ० वेलणकर खण्ड १, पृ० ११ व ९६

२. जैन ग्रन्थावलि, पृ० २१४ टिप्पणी

‘सूरिमन्त्र नित्यकर्म’ शाहूडाध्याभाई महोकमलाल अहमदाबाद ने सन् १९३१ ई० में प्रकाशित है ।

### १०. नेमिनाथकाण्ड :

मो० दलीचन्द देसाई के अनुसार २७ पद्यों में वि० संवत् १४०५ में २२ वें तीर्थकर नेमिनाथ और राहुल की कथा का वर्णन किया है ।<sup>१</sup>

### ११. शान्तिनाथ चरित का संशोधन

संस्कृत में बृहद्गच्छ के गुणभद्रसूरि के शिष्य मुनिभद्र द्वारा लिखा गया था । यह १९ काण्डों में है जिनमें लगभग ५००० श्लोक हैं । यह बनारस से प्रकाशित है । राजशेखर ने १३५२-५३ में शान्तिनाथ चरित का संशोधन किया था ।<sup>२</sup>

१२. द्वयाश्रय काव्य पर वृत्ति—१३३० ई० में राजशेखर सूरि ने हेमचन्द्रकृत ‘प्राकृत द्वयाश्रय काव्य’ पर एक वृत्ति लिखा है<sup>३</sup> ।

१३. वृत्तित्रय पर निबन्ध—कात्यायन के ‘कातन्त्र व्याकरण’ के आधार पर आचार्य राजशेखर सूरि ने ‘वृत्तित्रय निबन्ध’ नामक ग्रन्थ की रचना की है, ऐसा उल्लेख ‘बृहट्टिप्पणिका’ में है<sup>४</sup> ।

डा० प्रवेश भारद्वाज ने अपने शोधप्रबन्ध में उपदेश चिन्तामणि<sup>५</sup> को मलधारिराजशेखर की कृति बताया है । इसका आधार जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ५ में उपलब्ध उल्लेख है । परन्तु यह तथ्य से परे है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजशेखर बहुश्रुत लेखक थे और उनकी साहित्य रचना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है ।

१. देसाई, मो० द०, जैनगुर्जरकविओ, भाग १, बम्बई १९२५, पृ० १३ पाद टिप्पणी ।

२. जिनरत्नकोश पृ० ३८०

३. सण्डेसरा एण्ड ठाकरे, लेक्सिकोग्राफिकल स्टडीज इन जैन संस्कृत पृ० ४१ ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा १९६२

द्रष्टव्य—डॉ० भारद्वाज, प्रवेश वही पृ० ४३

४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ५, पृ० ५३, पा० वि० प्रकाशन

५. डॉ० भारद्वाज वही पृ० ४३



# शाजापुर का पुरातात्विक महत्व

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

वर्तमान मध्य प्रदेश में स्थित शाजापुर का क्षेत्र प्राचीन काल में अवंति (मालव) महाजनपद के अंतर्गत था, जिसकी राजधानी उज्जयिनी (वर्तमान उज्जैन) थी। विशाल अवंति जनपद के अंतर्गत माहिष्मती, उज्जयिनी, दशपुर, विदिशा आदि नगर थे, जो दीर्घकाल तक भारतीय इतिहास और संस्कृति के विकास के केन्द्र थे। कालांतर में अवंति के दो राजनीतिक भाग हुए—एक, पश्चिमी मालवा, जिसका अवंति नाम प्रचलित रहा। दूसरा, पूर्वी मालवा या दशार्ण जिसकी राजधानी विदिशा हुई। गुप्त काल के लेखक महाकवि कालिदास ने अपने ग्रंथ मेघदूत में विदिशा को दशार्ण प्रदेश की राजधानी लिखा है :

“तेषां दिक्षु प्रथितविदिशा—लक्षणां राजधानीम् ।”

(मेघ, पूर्वभाग, २५)

शाजापुर जिला की भूमि में मालवा पठार की विशेषताएं द्रष्टव्य हैं। यहाँ की पर्वत शृंखला तथा वनावली ने इस भूभाग को सुषमा प्रदान की है। जो नदियाँ इस भूमि को सिंचित और आवेष्टित करती हैं वे हैं—चीलर (चन्द्रभागा), काली सिंध (प्राचीन सिंधु) तथा नेवज (निर्विन्ध्या)। “निर्विन्ध्या” शब्द इस बात का द्योतक है कि यह नदी विस्तृत विन्ध्य पर्वत-माला की पश्चिमी सीमा थी। नेवज नदी शुजालपुर-पछोर से होती हुई ऊपर काली सिंध में मिलती है।

प्राचीन काल में मालवा होकर अनेक बड़े मार्ग जाते थे। धार्मिक तथा व्यापारिक कार्यों के लिए ये मार्ग बड़े उपयोगी थे। अरब सागर तट पर भरुकच्छ (भड़ौच) से प्रतिष्ठान (पैठण), माहिष्मती (महेश्वर) होता हुआ एक बड़ा मार्ग उज्जयिनी आता था। वहाँ से विदिशा तक का मार्ग बहुत प्रचलित था। “विदिशा” नाम इस बात का द्योतक है कि इस नगर से होकर अनेक दिशाओं को मार्ग जाते थे। विदिशा से तुंबवन होकर एक मार्ग कान्यकुब्ज (कनौज) और मथुरा को जोड़ता

था। दूसरा बड़ा मार्ग भारभुक्ति (भरहुत) होता हुआ कौशांबी (कोसम) जाता था। वहाँ से काशी, पाटलिपुत्र (पटना) होते हुए यह राजपथ राजगृह (राजगिरि) पहुँचता था। इस मार्ग पर राजगढ़ और शाजापुर जिलों के क्षेत्र थे।

बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि प्रतिष्ठान से राजगृह जाने वाले इसी मार्ग द्वारा बौद्ध पर्यटक बावरी अपने बहुसंख्यक शिष्यों के साथ गौतम बुद्ध से मिलने के लिए राजगृह गये थे।

ई०पू० ५०० के लगभग पाणिनि ने अपने ग्रंथ “अष्टाध्यायी” की रचना की। इस ग्रंथ में व्यापारिक मार्गों एवं यात्राओं के सन्दर्भ मिलते हैं। उत्तरापथ-मार्ग का उल्लेख पाणिनि ने किया है। यह बड़ा व्यापारिक-मार्ग उत्तरी भारत से चलकर उत्तर-पश्चिम में कैस्पियन सागर तट से होता हुआ आगे को जाता था। इसका वर्णन स्ट्राबो तथा प्लिनी नामक यूनानी ऐतिहासिकों ने भी किया है। भारत में यह मार्ग पुरुषपुर (पेशावर) से पूर्व में पाटलिपुत्र (पटना) तक जाता था। इस पर बाह्लीक, कपिशा, पुष्कलावती, मशकावती, उद्भांडपुर, तक्षशिला, शाकल, हस्तिनापुर, मथुरा, कनौज, प्रयाग पाटलिपुत्र तथा ताम्रलिप्ति नगर बसे हुए थे।

कात्यायन ने अपने व्याकरण-भाष्य में “कांतारपथ”, “जंगलपथ”, “स्थलपथ” और “नारिपथ” नामक व्यापारिक मार्गों की चर्चा की है। ये मार्ग क्रमशः घने जंगलों, साधारण वनों, मैदानों तथा नदी-समुद्र आदि जलाशयों से होकर गुजरते थे। पाणिनि द्वारा प्रयुक्त “पंचनौः”, “दशनौः” आदि शब्दों से प्रकट है कि व्यापारी जल-मार्ग द्वारा अपनी नौकाएँ ले जाते थे। “पंचनौः” से अभिप्राय माल से लदी हुई पाँच नौकाओं से तथा “दशनौः” से तात्पर्य ऐसी दस नावों से है।

बौद्ध ग्रंथ “महानिद्देस” की टीका तथा अन्य ग्रंथों में विविध प्रकार के व्यापारिक मार्गों के उल्लेख मिलते हैं।

झालावाड़, मंदसौर, रतलाम तथा राजगढ़ जिलों की सीमाएं शाजापुर जिले से मिलती हैं। इनमें भारतीय संस्कृति के विकास की दृष्टि से झालावाड़ और राजगढ़ क्षेत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। राजगढ़ से कुछ समय पूर्व कुषाण सम्राट् कनिष्क प्रथम की एक दुर्लभ स्वर्ण

मुद्रा मिली थी। उस पर एक ओर उपाधियों सहित कनिष्क का नाम अंकित है। वह बाएँ हाथ में शिव का प्रतीक त्रिशूल धारण किये है; दाएँ हाथ से वेदी में हवन कर रहा है। सिक्के के पृष्ठ भाग पर भगवान् बुद्ध अभयमुद्रा में खड़े हैं और उनका नाम प्राचीन यूनानी लिपि में 'बोड्डो' अंकित है। राजगढ़ जिला के नरसिंहगढ़ नामक स्थान पर मौखरि-वंश का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण ब्राह्मी लेख अंकित है, जिसका समय लगभग ५०० ई० है। लेख के अनुसार उस स्थल पर मौर्य सम्राट् अशोक ने बौद्ध-स्तूप तथा मठ का निर्माण कराया था। लेख के अनुसार ये इमारतें क्षतिग्रस्त हो गयीं। उनके पुनर्निर्माण तथा वहाँ के निवासी बौद्ध भिक्षुओं को सुविधाएँ प्रदान करने के लिए मौखरि राजा ने आदेश निकाला। यहाँ यह स्मरणीय है कि मौखरि शासक वैदिक धर्मावलम्बी थे। पर उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रति आदर भाव व्यक्त करते हुए उक्त आदेश प्रसारित किया था।

हाल में शाजापुर से लगभग १६ किलोमीटर दूर स्थित सेतखेड़ी नामक स्थान में एक बावड़ी (वापी) की सफाई करते समय एक दुर्लभ ब्राह्मी शिलालेख मिला है। शाजापुर की पुरातत्त्व-प्रेमी जिलाध्यक्षा श्रीमती अरुणा शर्मा ने इस शिलालेख को शाजापुर नगर में स्थापित संग्रहालय के लिए प्राप्त कर लिया है।

यह शिलालेख पश्चिमी भारत के क्षत्रप शासक रुद्रसिंह का है। इस पर शक संवत् १०७ (१८५ ई०) अंकित है। एक विशेष बात यह है कि लेख में रुद्रसिंह के तीन पूर्वजों—क्रमशः चष्टन, रुद्रदामा तथा जयदामा—के नाम लिखे हैं। पहली बार इतना प्राचीन क्षत्रप शिलालेख मध्य प्रदेश में मिला है। इसका गौरव निस्संदेह शाजापुर जनपद को प्राप्त हुआ है। एरण तथा सांची से क्षत्रपों के लेख, सिक्के, साँचे तथा अन्य अवशेष मिले हैं। सेतखेड़ी की यह नई उपलब्धि उनके इतिहास पर नया प्रकाश डालती है। ज्ञात हुआ है कि कुछ समय पूर्व सेतखेड़ी से कुछ सोने के सिक्के मिले थे, जो गला दिये गये।

प्राचीन शाजापुर क्षेत्र में समीपवर्ती भूभागों की तरह विभिन्न धर्म साथ-साथ संवर्धित हो रहे थे। वैदिक-पौराणिक, बौद्ध, जैन तथा लोकधर्म यहाँ सहिष्णुता के वातावरण में शताब्दियों तक विकसित

होते रहे । खोलवी तथा धमनार स्थलों के शैलकृत बौद्ध मंदिर, गुहाएँ और प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं । उनका निर्माण -- काल ई० ५०० से ९०० तक है । धमनार (धर्मनाथेश्वर) में कुल १४ शैलकृत गुहाएँ मिली हैं । काली सिंध पर स्थित सारंगपुर से प्राचीन आहत तथा साँचे के बने सिक्के और उज्जयिनी के सिक्के मिले हैं । रूपमती का जन्मस्थल होने के कारण मध्यकाल में इस स्थान को विशेष ख्याति मिली । धार जिले के बाघ नामक स्थान में गुप्त काल में बौद्ध मूर्तिकला तथा चित्रकला का प्रभूत विकास हुआ ।

शाजापुर-क्षेत्र अपनी उर्वर भूमि तथा प्राकृतिक सौंदर्य के कारण प्रख्यात था । प्राचीन काल में परमारों के पहले इस क्षेत्र पर मालवों और मौखरियों का क्रमशः शासन रहा । संभवतः कुछ समय के लिए यह क्षेत्र चष्टन वंशी क्षत्रपों के अधिकार में रहा ।

परमारों के शासनकाल में शाजापुर-क्षेत्र में बहुसंख्यक मंदिरों तथा प्रतिमाओं का निर्माण हुआ, जिनके अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं ।

इस जनपद की प्राचीन धरोहर को सुरक्षित रखने के लिए शाजापुर में संग्रहालय की स्थापना प्रशंसनीय कार्य है ।



# जैन जगत्

## भारतीय साहित्य एवं संस्कृति में ऋषभदेव

मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से इस विषय पर एक सर्वांग पुस्तक तैयार कर रहा हूँ। जिसमें प्राचीन सभ्यताएँ एवं ऋषभदेव; ऋषभदेव का सार्वभौमिक स्वरूप; ऋषभदेव एवं मानव संस्कृति; ऋषभदेव एवं शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यतायें, जैन/बौद्ध/वैदिक/ अन्य साहित्य में ऋषभदेव; मूर्ति स्थापत्य और चित्रकला के विशेष सन्दर्भ में ऋषभदेव; ऋषभदेव सम्बन्धी प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य, लेख आदि की अनुक्रमणिका आदि अध्याय होंगे। आप सभी विद्वानों से विनम्र अनुरोध है कि उक्त सन्दर्भों में आपके पास जो भी सामग्री हो कृपाकर भेजने का कष्ट करें, इसमें आपका जो भी व्यय होगा, उसे हम वहन करेंगे। पुस्तक को सर्वांग पूर्ण बनाने हेतु अपने विचार व सुझाव भेजें तो हम अनुग्रहीत होंगे।

डॉ० कपूरचन्द जैन,  
अध्यक्ष संस्कृत विभाग,  
श्री कुन्द कुन्द जैन महाविद्यालय, खतौली  
२५/२०१ मुजफ्फरनगर, उ० प्र०।

## प्राकृत एवं जैन विद्या : शोध सन्दर्भ का प्रकाशन

लगभग ३ वर्ष पूर्व हमने 'प्राकृत एवं जैन विद्या : शोध सन्दर्भ' पुस्तक में एतद्विषयक ४५२ शोध-प्रबन्धों की सूची प्रकाशित की थी। निरन्तर परिवर्तन/परिवर्धन/संशोधन के फलस्वरूप यह संख्या ६००-६५० के लगभग पहुँच गयी है। शोध सन्दर्भ के नवीन संस्करण में उक्त प्रबन्धों तथा प्रकाशित १०० शोध-प्रबन्धों की विस्तृत जानकारी दी जा रही है साथ ही इस क्षेत्र में कार्यरत संस्थानों/विभागों/पत्र-पत्रिकाओं/निदेशकों/प्रकाशकों के परिचय/पते एवं शोध-योग्य विषयों की सूची दी जा रही है। संस्थाओं को अलग से पत्र भेजे गये हैं। पुस्तक श्री योगेश

कुमार जैन, खतौली, श्री धनपाल जैन त्रिनगर, दिल्ली एवं कु० रश्मि जैन, खतौली की ओर से सभी संस्थानों/विश्वविद्यालयों/विदेशी संस्थानों/विशिष्ट विद्वानों/शोध छात्रों को मार्च अप्रैल में निःशुल्क प्रेषित की जायेगी। आपसे विनम्र अनुरोध है कि इस विषय में अपने सुझाव तथा शोध योग्य विषयों की सूची (१०० की सूची हमारे पास है) एवं अपना नवीन पता शीघ्र भेजकर अनुग्रहीत करें।

डॉ० कपूरचन्द जैन,  
श्री कुन्द कुन्द जैन महाविद्यालय, खतौली,  
२५/२०१, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

### प्रथम राष्ट्रीय प्राकृत सम्मेलन सम्पन्न

बैंगलोर, ८-९ दिसम्बर, १९९०। स्वामी भट्टारक चारुकीर्ति जी, श्रवणबेलगोला की अध्यक्षता में स्थापित प्राकृत ज्ञानभारती एजुकेशन ट्रस्ट, बैंगलोर द्वारा आयोजित प्रथम राष्ट्रीय प्राकृत सम्मेलन ८ एवं ९ दिसम्बर १९९० को बैंगलोर में सम्पन्न हुआ। सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए न्यायमूर्ति इ० एस० वेंकटारमय्या ने कहा कि प्राकृत को वही स्थान और सम्मान मिलना चाहिए जो देश की अन्य भाषाओं को प्राप्त है। सम्मेलन के अध्यक्ष प्रसिद्ध भाषाविद् डा० ए० एम० घाटगे (पूना) ने भाषात्मक, साहित्यिक एवं दार्शनिक पक्ष की दृष्टि से प्राकृत-अध्ययन को गति देने की प्रेरणा अपने अध्यक्षीय भाषण में दी। इस सम्मेलन में देश-विदेश के लगभग ७० प्राकृत विद्वान, शिक्षक एवं शोध-छात्र सम्मिलित हुए। हिन्दी, अंग्रेजी एवं कन्नड़ में शोध-पत्र पढ़े गये एवं सम्मेलन के कार्यकारी निदेशक डा० प्रेम सुमन जैन (उदयपुर) ने प्राकृत भाषा में भी अपना प्रारम्भिक वक्तव्य दिया।

इस सम्मेलन में ट्रस्ट द्वारा स्थापित “प्राकृत ज्ञानभारती पुरस्कार १९९०” प्राकृत के इन १० वयोवृद्ध विद्वानों को धर्मस्थल के धर्माधिकारी श्री वीरेन्द्र हेगड़े द्वारा प्रदान किये गये—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, पं० दलसुख भाई मालवणिया, पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, डॉ० नथमल टाटिया, डा० राजाराम जैन, डा० के० आर० चन्द्र, डा० बी० के० खडबडी, डा० एम० डी० बसन्तराज, डा० जे० सी० सिकदर एवं

डा० एच० सी भायाणी । स्वामी भट्टारक चारुकीर्ति जी ने प्रतिवर्ष 'प्राकृतज्ञानभारती पुरस्कार' प्रदान करने की घोषणा की तथा सम्मेलन के संयोजक एवं ट्रस्ट के मैनेजिंग ट्रस्टी डा० हम्पा नागराजय्या ने बताया कि यह प्राकृत सम्मेलन प्रति दो वर्ष में आयोजित होता रहेगा ।

सम्मेलन के अवसर पर प्राकृत की प्रकाशित लगभग १५०० पुस्तकों की प्रदर्शनी भी आयोजित की गयी । ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित (१) प्राकृत साहित्य की भूमिका (डा० प्रेम सृमन जैन); (२) प्राकृत साहित्य कइ-षिडि (शुभचन्द्र); (३) प्राकृत प्रवेशिका (कन्नड़); (४) कुन्दकुन्द प्रशस्ति (डा० जयचन्द्र, कन्नड़); (५) प्राकृत भारती (सम्मेलन स्मारिका) एवं प्राकृत अध्ययन प्रसार संस्थान उदयपुर द्वारा प्रकाशित; (६) 'प्राकृत-विद्या' त्रैमासिक पत्रिका के सम्मेलन-विशेषांक इन छह प्रकाशनों का विमोचन भी इस अवसर पर किया गया । समापन-समारोह के प्रमुख अतिथि कर्नाटक सरकार के शिक्षामन्त्री श्री एम० वीरप्पा मोइले ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण में प्राकृत को समुचित सम्मान और विद्वानों को पुरस्कार प्रदान करने का आश्वासन प्रदान किया । सम्मेलन की संस्तुतियों में "नेशनल प्राकृत अकादमी" की स्थापना पर विशेष बल दिया गया है ।

## कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में भगवान् महावीर चैयर की स्थापना

हरियाणा के पूर्व मुख्यमन्त्री श्री ओमप्रकाश चौटाला, वर्तमान मुख्यमन्त्री मास्टर हुकुमसिंह तथा शिक्षा मंत्री आदि के सद्प्रयत्नों से दिसम्बर १९९० में कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में भगवान् महावीर चैयर की स्थापना की गई । हरियाणा सरकार ने इस हेतु २ लाख १५ हजार रुपये की राशि सत्र १९९०-९१ के लिए अनुदान के रूप में स्वीकृत की है । भगवान् महावीर चैयर की स्थापना करके हरियाणा सरकार ने जैन समुदाय की भावनाओं का आदर किया है । हम उसके कृतज्ञ हैं ।

कीर्ति प्रसाद जैन

संयोजक

भगवान् महावीर चैयर जैन स्टडी उपसमिति

## शोक समाचार

पार्ष्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के भूतपूर्व कोषाध्यक्ष स्वर्गीय श्री मुनिलाल जी के द्वितीय पुत्र श्री रोशन लाल जैन का ९ दिसम्बर ९० को निधन हो गया। आप श्री मनोहर लाल जैन दम्बई के अनुज हैं।

° ° °

संस्थान की समिति के उपाध्यक्ष श्री मदन लाल जैन के समधी श्री सत्यपाल जैन का कोचीन में देहान्त हो गया।

विद्याश्रम परिवार इन मृतात्माओं की शान्ति के लिए प्रार्थना करता है।





श्रमण

अक्टूबर-दिसम्बर १९९० रजि० नं० एल० ३९ फोन : ३११४६२



transform plastic ideas  
into beautiful shape

## NUCHEM MOULDS & DIES

Our high-precision moulds and dies are designed to give your moulded product clean, flawless lines. Fully tested to give instant production the moulds are made of special alloy steel, hard chrome-plated for a better finish.

Get in touch with us for information on compression, injection or transfer moulds. Send a drawing or a sample of your design. If required we can undertake jobs right from the designing stage.

Write to

***Nuchem* PLASTICS LTD.**

Engineering Division 20/6, Mathura Road, Faridabad (Haryana)

Edited by Dr. Sagar Mal Jain and Published by the  
Director, P. V. Research Institute, Varanasi-221005

Printed at Divine Printers, Sonarpura, Varanasi.